(भगवान महावीर २६ सौ वाँ जन्म-जयन्ती वर्ष)

प्रवचनरत्नाकर

भाग १०

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
समयसार गाथा ३७३ से ४१५ पर हुए प्रवचन)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

अनुवादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रकाशक :

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथम संस्करण : 5 हजार
(22 जुलाई 2001)

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थाधिराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचनरत्नाकर भाग 10 प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी इस युग में सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकार को यह दिगम्बर जैनसमाज युगों-युगों तक स्मरण रखेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवन-धारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रन्थ को पाकर सन् 1934 में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुँहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और सामान्य ब्रह्मचारी श्रावक के रूप में अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने 45 वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नही हैं ,तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया ही गया है; परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय मुम्बई के श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रन्थाधिराज पर हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ के गुजराती प्रवचन 11 भागों में प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार पर हुए प्रवचनों को हिन्दी में रूपान्तर करके 'प्रवचनरत्नाकर' के ही नाम से अभी तक आठ भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह दसवाँ भाग आपके हाथों में है। आगे के भागों का भी अनुवाद कार्य चल रहा है।

हिन्दी में रूपान्तरित प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में 1 से 25 गाथाएँ, द्वितीय भाग में 26 से 68, तृतीय भाग में 69 से 91, चतुर्थ भाग में 92 से 144, पाँचवें भाग में 145 से 180, छठवें भाग में 181 से 214, सातवें भाग में 215 से 236, आठवें भाग में 237 से 307, नौवें भाग में 308 से 372 तथा दसवें भाग में 373 से 415 गाथाओं तक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद कार्य में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है; अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं। वे सभी दान-दातार भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर पुस्तक को जन सामान्य के लिए अल्प मूल्य में उपलब्ध कराया है।

आप सभी प्रवचनरत्नाकर के माध्यम से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें, इसी भावना के साथ –

महामंत्री
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जन साधारण की तो बात ही क्या करें, बड़-बड़े दिग्गज विद्वान् भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त 19 बार तो सभा में प्रवचन दिए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन द्रष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है –

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र, बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले विरले ही थे। आज भी दि. जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले ही हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर

---

[1] जैन सन्देश, 4 नवम्बर 1976, सम्पादकीय

अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए -- इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमगाम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर 18वी बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। 16 अप्रेल, 1980 ई. को मुम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की 91 वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी

गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन,चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में पाँच वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के लगभग 20-22 पृष्ठ तो दे ही रहा हूँ। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है। इसकारण मुझे यद्यपि इसके सम्पादन में अधिक श्रम उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर में जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गये हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ को जो कि अनेक

भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लगभग चार सौ पृष्ठों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वोल्यूम बनाने में विषयवस्तु बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुररुक्ति भी बहुत पाई जाती है। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जाय – इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है; पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिन्दी के भी प्रायः एक पेज में ही आ गया है। ग्रन्थ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित हो गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूल ग्रन्थ संस्कृत व हिन्दी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत-सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गइराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन संबंधी छोटी-छोटी त्रुटियों की उपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसंबंधी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

– (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गूढ़ गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्राजंल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ। अन्यथा थोड़ी-सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गमीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर प्रारम्भिक परिश्रम और कठिनाईयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर अन्ततोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया था। इस कार्यभार को संभालने में संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचनरत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और

भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। प्रारम्भ में एक-दो भागों में जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ गुजराती-हिन्दी शब्दकोष के सहारे उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ। बाद के अनुवाद कार्य में तो वह भी कठिनाई नहीं हुई।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गंभीर रहस्यों को – जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्मसन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तः सुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्य निशास्त्रसमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः-पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा और अपेक्षा है।

– रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री विजेन्द्रकुमारजी जैन, दिल्ली	2101.00
2.	श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, गाजियाबाद	1500.00
3.	श्री कान्तिप्रसाद मनोजकुमारजी जैन, दिल्ली	1101.00
4.	श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली	1101.00
5.	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, रतलाम	1000.00
6.	श्रीमती मीनादेवी तेजप्रकाशजी जैन, दिल्ली	1000.00
7.	श्री अनिलकुमार शान्तिलाल जैन, बलसाड़	501.00
8.	श्री नथमलजी झांझरी, जयपुर	501.00
9.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	501.00
10.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	501.00
11.	श्री रमेशचन्दजी अभयकुमारजी जैन, खतौरा	501.00
12.	मैसर्स भण्डारी टैक्सटाइल्स, चेन्नई	500.00
13.	श्री छगनराजजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
14.	श्रीमती पुष्पा भण्डारी, चेन्नई	500.00
15.	श्री सुनीलजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
16.	श्रीमती सुनीता भण्डारी, चेन्नई	500.00
17.	श्री सुरेशचन्दजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
18.	श्रीमती शशि भण्डारी, चेन्नई	500.00
19.	श्री सुधीरजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
20.	श्रीमती रीता भण्डारी, चेन्नई	500.00
21.	श्री सिद्धार्थजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
22.	श्री शंशाकजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
23.	श्रीमती संजना भण्डारी, चेन्नई	500.00
24.	श्रीमती स्नेहा भण्डारी, चेन्नई	500.00
25.	श्री शुभमजी भण्डारी, चेन्नई	500.00
26.	श्रीमती सुलभा एम. वोधरा, चेन्नई	500.00
27.	श्री शैलेन्द्र जैन पुत्र श्री नथमलजी झांझरी, जयपुर	500.00
28.	श्री पाटनी परिवार लालसोट	500.00

29. श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन, विजयनगर	301.00
30. श्री राजीवकुमारजी जैन, मभौगांव	300.00
31. स्व. ऋषभकुमार सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	300.00
32. श्री गुलकन्दाबेन सुन्दरलालजी जैन हस्ते ब्र. श्रीचन्दजी जैन, भिण्ड	251.00
33. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	251.00
34. श्रीमती भंवरीबाई घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	251.00
35. श्रीमती श्रीकान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
36. स्व. श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	251.00
37. ब्र. कुसुम जैन, हाथकंगले	251.00
38. ब्र. कुसुम पाटील हस्ते हुकमचन्दजी पन्नालालजी दोशी, अकलूज	250.00
39. श्री सरदारमलजी बैरसिया, भोपाल	250.00
40. श्री जयकुमारजी दोड़ल, हिंगोली	201.00
41. श्री महावीरकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	201.00
42. श्री राजेन्द्रकुमारजी बावेल, विजयनगर	201.00
43. श्री प्रेमचन्दजी संघी, जयपुर	201.00
44. श्री जयकुमार शितलाजी दोड़ल, हिंगोली	200.00
45. श्रीमती चन्द्रावती जिनेश्वरप्रसादजी जैन, सहारनपुर	200.00
46. श्री चिद्रूपजी शाह, मुम्बई	111.00
47. चौधरी फूलचन्दजी जैन, मुम्बई	111.00
48. श्रीमती स्नेहलता शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा	111.00
49. श्री आनन्दकुमार जयन्तकुमारजी जैन, रतलाम	101.00
50. श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	101.00
51. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
52. श्री मदनलालजी जैन, कोटा	101.00
53. श्री दुलीचन्द कमलेशजी जैन हस्ते जिनेश जैन, खैरागढ़	101.00
कुल राशि :	**23757.00**

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रंथ का नाम	मूल्य(रु.)
मोक्षशास्त्र	60
चौबीस तीर्थंकर महापुराण	50
बृहद जिनवाणी संग्रह	45
रत्नकरण्डश्रावकाचार/समयसार	40
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1	35
प्रवचनसार/सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 2(उत्तरार्ध)	30
समयसार नाटक/मोक्षमार्गप्रकाशक	25
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 2 (पूर्वार्द्ध) एवं भाग 3 /बृहद द्रव्यसंग्रह	25
जिनेन्द्र अर्चना/दिव्यध्वनिसार प्रवचन/नियमसार	25
योगसार प्रवचन/तीनलोकमंडल विधान/समयसार कलश	20
चिन्तन की गहराईयाँ	20
प्रवचनरत्नाकर भाग 3,4,8,9/नयप्रज्ञापन/समाधितंत्र प्रवचन	20
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व/समयसार अनुशीलन भाग 1,2,3,4	20
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	20
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	18
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा/प्रवचनरत्नाकर भाग 6	16
परमभावप्रकाशक नयचक्र/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/ज्ञानगोष्ठी	16
सूक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/आत्मानुशासन/संस्कार	15
इन भावों का फल क्या होगा	15
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार/प्रवचनरत्नाकर भाग 2	15
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन	15
सुखी जीवन	14
सर्वोदय तीर्थ/प्रवचनरत्नाकर भाग 7/सत्य की खोज	14
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व	12
बिखरे मोती/तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	12
श्रावकधर्मप्रकाश/कल्पद्रुम विधान	11
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3/वी.वि. प्रवचन भाग 4	10

चौबीस तीर्थंकर पूजा/भक्तामर प्रवचन	10
तत्त्वज्ञान तरंगणी	10
रत्नत्रय विधान/बारह भावना : एक अनुशीलन	10
विदाई की बेला	10
धर्म के दशलक्षण//पंचमेरु नंदीश्वर विधान	10
सुखी होने का उपाय भाग 6,7	10
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय/आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	10
कालजयी बनारसीदास	10
बालबोध भाग 1,2,3/तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2/छहढाला(सचित्र)	8
भ. ऋषभदेव/शीलवान सुदर्शन/सुखी होने का उपाय भाग 2,3	8
प्रशिक्षण-निर्देशिका/जैन विधि-विधान/क्रमबद्धपर्याय/बारसाणुवेक्खा	8
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो/बीस तीर्थंकर विधान/170 तीर्थं. विधान	7
चौबीस तीर्थंकर विधान/सुखी होने का उपाय भाग 1 से 4	7
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव/जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 13 तक	6
अहिंसा के पथ पर/जिनवरस्य नयचक्रम्/णमोकार महामंत्र	6
कारणशुद्धपर्याय/वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5 6	6
चौसठ ऋद्धि विधान/दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव	6
पंचपरमेष्ठी विधान	6
विचार के पत्र विकार के नाम	6
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम/परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग	5
रत्नत्रय विधान/युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार	5
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका	5
मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप/वीर हिमाचलतैं निकसी	4
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में	4
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान	3
म ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ	3
महावीर वंदना (कैलेण्डर)	3
वस्तुस्वातंत्र्य/भरत-बाहुबली नाटक	3
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति	3

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार
(शेष भाग)
समयसार गाथा ३७३ से ३८२

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो।।३७३।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो।।३७४।।

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः।।३७३।।
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः।।३७४।।

इस अर्थ की गाथा कहते हैं :–

पुद्गलदरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष-तोष जु जीव करे।।३७३।।
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तूँ क्यों करे।।३७४।।

गाथार्थ :– (बहुकानि) बहुत प्रकार के (निन्दितसंस्तुतवचनानि) निन्दा के और स्तुति के वचनरूपमें (पुद्गलाः) पुद्गल (परिणमंति) परिणमित होते हैं; (तानि श्रुत्वा पुनः) उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव (अहं भणितः) 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर (रुष्यति तुष्यति च) रोष और संतोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है)।

(पुद्गलद्रव्यं) पुद्गलद्रव्य (शब्दत्वपरिणतं) शब्दरूपसे परिणमित हुआ है; (तस्य गुणः) उसका गुण (यदि अन्यः) यदि (तुझसे) अन्य है, (तस्मात्) तो हे अज्ञानी जीव! (त्वं न किंचित् अपि भणितः) तुझसे

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
नय एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं।।३७५।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं।।३७७।।

अशुभ: शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम्।।३७५।।
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्यं मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम्।।३७६।।
अशुभ: शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गन्धम्।।३७७।।

कुछ भी नहीं कहा है; (अबुद्धः) तू अज्ञानी होता हुआ (किं रुष्यसि) क्यों रोष करता है ?

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्दको।।३७५।।
शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूपको।।३७६।।
शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंधको।।३७७।।

गाथार्थ :– (अशुभः वा शुभः शब्दः) अशुभ अथवा शुभ शब्द (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् श्रृणु इति) 'तू मुझे सुन'; (सः एव च) और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), (श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम) श्रोत्र-इन्द्रियके विषय में आये हुए शब्दको (विनिर्ग्रहीतुं न एति) ग्रहण करनेको (जाननेकी) नहीं जाता।

(अशुभं वा शुभं रूपं) अशुभ अथवा शुभ रूप (त्वां न भणति)

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं।।३७८।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं।।३७९।।

अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम्।।३७८।।
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं स्पर्शम्।।३७९।।

तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् पश्य इति) 'तू मुझे देख'; (सः एव च) और आत्मा भी (अपने स्थान से छूटकर), (चक्षुर्विषयम् आगतं) चक्षु-इन्द्रियके विषयमें आये हुए (रूपम्) रूपको (विनिर्ग्रहीतुं न एति) ग्रहण करने नहीं जाता।

(अशुभः वा शुभः गंधः) अशुभ अथवा शुभ गंध (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहती कि (माम् जिघ्र इति) 'तू मुझे सूंघ'; (सः एव च) और आत्मा भी (घ्राणविषयम् आगतं गंधम्) घ्राण-इन्द्रिय के विषयमें आई हुई गंधको (विनिर्ग्रहीतुं न एति) (अपने स्थानसे च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।

शुभ या अशुभ रस कोई भी 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वादको।।३७८।।
शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्शको।।३७९।।

गाथार्थ :— (अशुभः वा शुभः रसः) अशुभ अथवा शुभ रस (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् रसय इति) 'तू मुझे चख'; (सः एव च) और आत्मा भी (रसनविषयम् आगतं तु रसम्) रसना-इन्द्रियके विषयमें आये हुये रसको (अपने स्थानसे च्युत होकर) (विनिर्ग्रहीतुं न एति) ग्रहण करने नहीं जाता।

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं।।३८१।।
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम्।।३८०।।
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम्।।३८१।।

(अशुभः वा शुभः स्पर्शः) अशुभ अथवा शुभ स्पर्श (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् स्पर्श इति) 'तू मुझे स्पर्श कर'; (सः एव च) और आत्मा भी (कायविषयम् आगतं स्पर्शम्) कायके (स्पर्शेन्द्रियके) विषयमें आये हुए स्पर्शको (अपने स्थानसे च्युत होकर), (विनिर्ग्रहीतुं न एति) ग्रहण करने नहीं जाता।

शुभ या अशुभ गुण कोइ भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे।।३८०।।
शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे।।३८१।।

गाथार्थ :– (अशुभः वा शुभः गुणः) अशुभ अथवा शुभ गुण (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् बुध्यस्व इति) 'तू मुझे जान'; (सः एव च) और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), (बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्) बुद्धिके विषयमें आये हुए गुणको (विनिर्गहीतुं न एति) ग्रहण करने नहीं जाता।

(अशुभं वा शुभं द्रव्य) अशुभ अथवा शुभ द्रव्य (त्वां न भणति) तुझसे यह नहीं कहता कि (माम् बुधस्व इति) 'तू मुझे जान'; (सः एव च) और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत हो कर), (बुद्धिविषयम् आगत द्रव्य्) बुद्धिके विषयमें आये हुए द्रव्यको (विनिर्ग्रहीतुं न एति) ग्रहण करने नहीं

एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः।।३८२।।

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति, न च प्रदीपोऽप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्यतं प्रकाशयितुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा

जाता।

यह जानकर भी मूढ़ जीव पावे नहिं उपशम अरे!
शिव बुद्धि को पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे।।३८२।।

गाथार्थ :– (**एतत् तु ज्ञात्वा**) ऐसा जानकर भी (**मूढः**) मूढ़ जीव (**उपशमं न एव गच्छति**) उपशमको प्रा प्त नहीं होता; (**च**) और (**शिवाम् बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं**) शिव बुद्धिको (कल्याणकारी बुद्धिको, सम्यग्ज्ञानको) न प्राप्त हुआ स्वयं (**परस्य विनिर्ग्रहमनाः**) परको ग्रहण करनेका मन करता है।

टीका :– प्रथम दृष्टान्त कहते हैं : इस जगतमें बाह्यपदार्थ–घटपटादि–, जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है, उसीप्रकार, दीपकको स्वप्रकाशनमें (अर्थात् बाह्यपदार्थको प्रकाशित करने के कार्यमें) नही लगाता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर! और दीपक भी लोहचुम्बक-पाषाणसे खींची गई लोहेकी सुईकी भांति अपने स्थानसे च्युत होकर उसे (बाह्यपदार्थको) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव दूसरे से उत्पन्न नहीं किया

घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते। तथा बहिरर्थः शब्दो, रूपं, गंधो, रसः, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पृश, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयंति, न चात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्चयथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेणैव जानतश्चास्य

जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, दीपक जैसे बाह्यपदार्थकी असमीपतामें अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है। उसीप्रकार बाह्यपदार्थकी समीपतामें भी अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है ऐसे दीपकको, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसीप्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं – बाह्य पदार्थ – शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य –, जैसे देवदत्त यज्ञदत्तको हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है, उसीप्रकार, आत्माको स्वज्ञानमें (बाह्यपदार्थोंके जाननेके कार्यमें) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान,' और आत्मा भी लोह चुम्बक-पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थानस च्युत होकर उन्हें (बाह्यपदार्थोंको) जाननेको नहीं जाता; परन्तु वस्तुस्वभाव पर क द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, आत्मा जैसे बाह्य पदाथोकी असमीपतामें (अपने स्वरूपसे ही जानता है)

उसीप्रकार बाह्यपदार्थोंकी समीपतामें भी अपने स्वरूपसे ही जानताहै। (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि

वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंत: कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन्। एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थिति:, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम्।

बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इसप्रकार आत्मा दीपक की भांति पर के प्रति सदा उदासीन (अर्थात् सम्बन्ध रहित; तटस्थ) है – ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो रागद्वेष होता है सो अज्ञान है।

भावार्थ :– शब्दादिक जड़ पुद्‌गलद्रव्यके गुण हैं। वे आत्मासे कहीं यह नहीं कहते कि 'तू हमें ग्रहण कर' अर्थात् तू हमें जान और आत्मा भी अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें ग्रहण करनेके लिये (जाननेके लिये) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों तब आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है, इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूपसे ही जाननेवाले ऐसे आत्माको अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते। जैसे कि अपने स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपकको घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते – ऐसा वस्तुस्वभाव है; तथापि जीव शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंध को सूंघकर, रसका स्वाद लेकर, स्पर्शको छूकर, गुण-द्रव्यको जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।

गाथा ३७३ से ३८२ एवं टीका पर प्रवचन

देखो, कहते हैं कि – घड़े, वस्त्र, पुस्तक, लकड़ी आदि बाह्य पदार्थ दीपक से ऐसा नहीं कहते कि 'तू हमें प्रकाशित कर !, अरे ! प्रकाशित करना तो दीपक का स्वतंत्र स्वभाव है। दीपक को घट-पटादि प्रकाशित करने के लिए घट-पट की पराधीनता भी नहीं है। भले घट-पट हों या न हों, फिर भी दीपक तो अपने स्वभावानुसार बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता ही है।

भी दीपक तो अपने स्वभावानुसार बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता ही है।

दीपक लोहा और चुम्बक की भाँति अपने स्थान से हट कर परपदार्थों को प्रकाशित करने नहीं जाता। दीपक दीपक में ही रहता है और परपदार्थ परपदार्थ में ही रहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि वस्तुस्वभाव पर के कारण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दीपक का जो प्रकाशित करने का स्वभाव है, वह घट-पट आदि पदार्थों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा दीपक का प्रकाशस्वभाव घट-पटादि परपदार्थों को उत्पन्न कर दे – ऐसा भी नहीं है; क्योंकि वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता।

देखो, यहाँ दीपक व घट का दृष्वन्त देकर यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कहा है कि घट-पटादि बाह्य पदार्थ अपने स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होते हैं, दीपक के कारण नहीं। तथा वह बाह्य पदार्थ अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता हुआ दीपक में किंचित् भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटाते हैं। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अपने क्षेत्र को छोड़कर स्पर्श आदि परपदार्थों को जानने के लिए वहाँ जाता नहीं है तथा वे बाहर के स्पर्श आदि पदार्थ आत्मा से कहते नहीं हैं कि 'तू हमें जान, जिसतरह दीपक घट-पट को प्रकाशित करने के लिए अपना स्थान छोड़कर घट-पटादि के पास नहीं जाता तथा यह घट-पटादि भी दीपक से यह नहीं कहते कि – 'तू हमें जान;' उसीप्रकार ज्ञानप्रकाश का पुंज आत्मा देहादि पदार्थों को जानने के लिए अपना स्थान छोड़कर वहाँ नहीं जाता। तथा वे देहादि पदार्थ आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तू हमें जान।' अरे भगवान! तू स्वयं जानने के स्वभाववाला है। तू जाननेवाले को ही नहीं जानता – यह कैसी विडम्बना है? इस देह-देवालय में तू स्वयं सच्चिदानन्द, ज्ञानानन्द, सहजानन्दस्वरूप पूर्णप्रभु विराज रहा है। अहो! तू स्वयं पूर्ण आनन्द व पूर्णज्ञान से ठसाठस भरा हुआ है, फिर भी यदि तू पर में सुख मानता है, इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है तो यह तेरी ही मूर्खता नहीं

तो और क्या है?

परवस्तु स्वयं स्वतंत्रपने अपने स्वयं के कारण आती-जाती है। तू तो मात्र उसका ज्ञायक है। जैसे यह कहा जाता है कि – दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम, उसीतरह प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ पर उसे जानने वाली ज्ञान की पर्याय का भी नाम लिखा है। आने-जाने वाले प्रत्येक परमाणु का आना-जाना भी उनके अपने-अपने स्व-समय में ही होता है, उसमें भी फेर-बदल करने की ताकत किसी में नहीं है। अतः तू जो पर को मिलाने या हटाने में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है – यह तेरी मूर्खता है, पागलपन है।

यहाँ कहते हैं कि – देह-देवालय में रहनेवाला देह से भिन्न चैतन्यदेव, देह का ज्ञान कराता हुआ भी अपना स्व-स्थान छोड़कर देह में नहीं जाता अर्थात् देहरूप नहीं होता, ज्ञानस्वरूप ही रहता है। तथा यह देह भी उससे यह नहीं कहता कि – 'तू मुझे जान।' जानना तो आत्मा का स्वभाव है। अरे! अनन्तकाल से इस जीव ने जड़रत्नों की कीमत तो की, पर चैतन्यरत्न की कीमत नहीं की। अपने आनन्दधाम आत्मप्रभु की महिमा को नहीं जाना। बस, इसीकारण संसार परिभ्रमण नहीं मिटा।

यह वाणी जो जड़ध्वनि है, निन्दा-प्रशंसा के जो शब्द हैं, वे आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तू मुझे सुन।' इसीतरह स्त्री का सुन्दर रूप, उसका कोमल स्पर्श यह आग्रह नहीं करता कि 'तू मुझे देख, तू मुझे छू!' परंतु अज्ञानी जीव ने इनमें मिथ्या सुखबुद्धि के भ्रम में पड़कर अपने को जाना-पहचाना नहीं। बस, इन्हीं विषयानुराग में स्वयं ही अटक रहा है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि –'बाहर से लक्ष्य हटाकर उपयोग को स्वरूप-सन्मुख कर।' इससे तुझे आत्मज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होगी और इसके बिना तेरा सारा श्रम निरर्थक ही रहेगा। किसी ने कहा भी है –'**जहाँ तक आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं, वहाँ तक साधना सर्व झूठी।**' इसलिए अपने उपयोग को आत्म-सन्मुख करके स्वयं को जानन-पहचानने का प्रयत्न करो।

भाई! परवस्तुपर लक्ष्य जायेगा तो राग-द्वेष ही होंगे जो कि दुःखरूप ही हैं। तीनलोक के नाथ तीर्थंकर परमात्मा की ओर लक्ष्य जायेगा तो वह भी शुभराग ही है, और वह भी आकुलताजनक होने से दुःखरूप ही है। एकमात्र चिदानन्द प्रभु अपने आत्मा के लक्ष्य से ही निराकुल आनन्द की उत्पत्ति होती है।

अब कहते हैं कि – जिसतरह वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, उसीतरह पर को भी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसकारण आत्मा जिसप्रकार बाह्य पदार्थों की असमीपता में अपने स्वरूप से ही जानता है, उसीप्रकार उनकी समीपता होने पर भी स्वयं के स्वरूप से ही जानता है।

देखो, यहाँ यह सिद्धान्त कहा है कि – वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आत्मा की ज्ञान की दशा शब्दादि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न नहीं की जा सकती; क्योंकि ज्ञान का स्व का परिणमन अपने गुण से ही उत्पन्न होता है, पर से हीं। भाई! ऐसा मानना कि –'शास्त्र से ज्ञान होता है, भगवान की वाणी सुनने से ज्ञान होता है या गुरु के उपदेश सुनने से ज्ञान होता है, सही नहीं है; क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा नहीं है। परवस्तु से त्रिकाल भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। अपना आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसपर दृष्टि करने से ही अपना ज्ञान व आनन्द उत्पन्न होता है। जब यह जीव स्वयं अपने से समझे तो उस समय कानों में पड़ी गुरु की वाणी को निमित्त कहा जाता है। वास्तव में तो यह आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है।'

स्वयं अपने से समझे कि – मैं कर्म नहीं, विकार नहीं, मैं पुण्य-पाप भी नहीं। मैं तो अखण्ड एक आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु हूँ।

आत्मवस्तु तो स्वभावतः ज्ञानानन्दस्वरूप प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है, किन्तु परपदार्थों की एकताबुद्धि के कारण अनादिकाल से वह ताले के अन्दर बन्द है। आचार्य कहते हैं कि तू एक बार तत्त्वज्ञान की रुचिरूपी चाबी से उसे खोल ले अथवा भेदज्ञान के हथौड़े से उसे तोड़ दे।

अरे! जहाँ वस्तु है, वहाँ देखता नहीं है और जहाँ अपनीनिधि नहीं है, वहाँ अटक गया है। ऐसा मानकर बैठा है कि–'पर में से आत्मज्ञान उदित होगा, सुख प्रगट होगा', परन्तु भाई! इन शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि पदार्थों से ज्ञान की पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता।

ये व्यापार-धन्धा और पैसा कमाने की सब जड़ की क्रियायें आत्मा नहीं कर सकता। भिन्न पदार्थ, भिन्न पदार्थ की क्रिया करे – यह जैनमत ही नहीं है। बात थोड़ी कड़क है, अनादिकालीन मिथ्यामान्यता के कारण जल्दी समझ में नहीं आती; पर सत्य यही है।

जिसको शुद्ध एक चैतन्य आत्मवस्तु की दृष्टि हुई, उसे 'स्व' का ज्ञान होता है। ब्राह्य पदार्थों का ज्ञान भी उस चैतन्य आत्मा को उन पदार्थों का स्पर्श किये बिना ही होता है। ज्ञान का ऐसा ही स्व-परप्रकाशक स्वरूप है। पर पदार्थ दूर हो या पास, उन्हें जानने के लिए आत्मा को उन पदार्थों के पास नहीं जाना पड़ता।

'मैं ज्ञायक हूँ' – जिसे अन्तर में ऐसा अनुभव हुआ वह ज्ञानी दूर के पदार्थों को अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान के स्वभाव से उन पदार्थों को छुये बिना ही जानता है। अहाहा! वह जिसतरह अपने स्वरूप में रहकर 'स्व' को जानता है, उसीतरह दूर के व नजदीक के 'पर पदार्थों' को भी जानता है। ज्ञान का ऐसा ही स्व-परप्रकाशक स्वभाव है।

दूसरे प्रकार से कहें तो समयसार की ही १७–१८ वीं गाथा में आचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं कि – भले अज्ञानी की ज्ञान पर्याय हो, उसमें भी आत्मा जाना जाता है। अज्ञानी की ज्ञान पर्याय का स्वभाव भी स्व-परप्रकाशक होने से पर्याय में स्वज्ञायक चिदानन्द भगवान पूरा का पूरा जाना जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है तो उसकी पर्याय में अकेला पर जानने में आये – ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञान पर्याय का ऐसा ही स्वभाव है कि वह 'स्व' को भी जाने और 'पर' को भी जाने। ऐसा होने पर भी अज्ञानी की

दृष्टि ज्ञायकभाव पर नहीं जाती। मिथ्यात्व की भूमिका में ऐसी दृष्टि रहती है कि – 'मैं राग एवं पर्याय को जानता हूँ।' उक्त १७-१८ वीं गाथा की टीका के तीसरे पैरा में लिखा है कि यद्यपि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल गोपाल सभी के अनुभव में सदा आ रहा है, तथापि परपदार्थों में अनादिकालीन एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानीजनों को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। इस आत्मज्ञान के अभाव में' अज्ञान का श्रद्धान गधे के सींग के समान है।' – इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मश्रद्धान भी उदित नहीं होता और इसीकारण आत्माचरण भी नहीं होता। इसप्रकार उन्हें आत्मोपलब्धि नहीं हो पाती।

जिसप्रकार त्रिकाली ज्ञानगुण का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, उसी प्रकार उस ज्ञानगुण की वर्तमान प्रगट पर्याय का स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक है। इसकारण उस पर्याय में सब जीवों को सदाकाल ज्ञायक जानने में आते हुए भी राग के वश होकर अज्ञानी जीव उस ज्ञायक को देख नहीं पाता, उसमें अपनापन स्थापित नहीं कर पाता। उसकी दृष्टि केवल पर्याय पर व राग पर रहती है, इसकारण 'मैं इस ज्ञायक को जानता हूँ' – यह बात भूल जाता है। अनादिबन्ध के आधीन हुआ राग को ही देखता है। मेरी इस वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक भी जानने में आ रहा है – ऐसा भान नहीं है, किसी कवि ने कितना अच्छा कहा है –

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचनभेद भ्रम भारी।
ज्ञेयशक्ति दुविधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी।।

अहाहा! कहते हैं कि – ज्ञान की वर्तमान पर्याय में स्वपर ज्ञेयों को जानने की ताकत है। इसकारण वह पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य को जानती है। यद्यपि वंर्तमान पर्याय में द्रव्य आता नहीं, समाता नहीं, परन्तु उस ज्ञानपर्याय में द्रव्य का ज्ञान होता है। फिर भी अज्ञानी दृष्टि में राग को पूज्य मानकर वहाँ अटक जाता है, आत्मा जानने में आता है; पर वह उसे जानता नहीं है और ऐसी मिथ्याबुद्धि हो गई है कि आत्मा तो पर को जानता है अर्थात् आत्मा अकेला परप्रकाशक है – ऐसी बुद्धि हो गई है।

अरे भाई! समीपवर्ती या दूरवर्ती पदार्थों में आत्मा अकेला पर को ही जानता है– ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्यवाला चैतन्यबिम्ब है। वह जिसकी एक समय की ज्ञान की पर्याय में जाना गया है, उसकी उस ज्ञान की पर्याय में जैसा समीपवर्ती आत्मा जाना जाता है, वैसा ही दूरवर्ती पदार्थ भी उसे स्पर्श किए बिना जानने में आ जाता है।

एक समय की जानने-देखनेरूप स्व-परप्रकाशक पर्याय में सम्पूर्ण आत्मद्रव्य, आत्मद्रव्य के अनन्त गुण एवं इसकी तीनों कालसम्बन्धी अनन्त पर्यायें तथा छहों द्रव्यों के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायें सब एक समय में जानने में आ जाते हैं। सारा जगत एक समय में ज्ञात होता है। इतना होते हुए भी क्या एक समय की ज्ञान पर्याय में अपना द्रव्य-गुण और छह द्रव्य नहीं आ सकते ?

अरे प्रभु! तू कौन है? और तेरी सामर्थ्य क्या है? इसकी तुझे खबर नहीं है। अन्यथा ऐसी बात ही क्यों करता?

अहाहा! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय पूरे लोकालोक को जाने तो भी ज्ञान में कुछ कमी नहीं आती, ज्ञान जानने से घटता नहीं है। अहा! भगवान आत्मा ऐसा अलौकिक चैतन्य चमत्कारमय है।

आत्मा में जो केवलज्ञान की पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, वह भी वस्तुतः अपनी पर्यायगत योग्यता से ही हुई है; द्रव्य में से या गुण में से पर्याय हुई है – यह कथन व्यवहार का है। जो पूर्ण अनन्तज्ञानरूप पर्याय प्रगट हुई है, वह अपनी पर्यायगत योग्यता से ही हुई है, द्रव्य से नहीं। द्रव्य–गुण तो जैसे के तैसे विद्यमान हैं, उनमें कुछ घटा-बढ़ा नहीं है। इसप्रकार सब ओर से – सभी पक्षों से वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझना चाहिए।

निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान की पर्याय थी। उसका विकास होकर ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का अर्थात् द्वादशांग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान का अनन्तगुणा विकास है। तथा केवलज्ञान की पर्याय होती है, वह तो उससे भी अनन्तगुणा विकास है। अहा! जिस आत्मा के ज्ञान में ऐसा

सम्पूर्ण जगत, स्व-पर के द्रव्य-गुण एवं अनादि-अनन्त पर्यायें ज्ञात होती हैं – ऐसी ज्ञानगुण की पूर्ण पर्याय प्रगट होने पर भी आत्मद्रव्य व ज्ञान गुण में कुछ भी घटता-बढ़ता नहीं है। अहाहा! ऐसा अखंडानन्द प्रभु अन्दर में नित्य विराजमान है। उसे दृष्टि में लेते ही सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट होता है।

आत्मा जिसप्रकार दूर स्थित बाह्य पदार्थों को अपने स्वरूप से ही जानता है; उसीप्रकार समीप स्थित बाह्य पदार्थों को भी अपने स्वरूप से ही जानता है।

आकाश का अनन्त-अनन्त योजन में विस्तार है, उसके प्रदेशों का कहीं अन्त नहीं है। ऐसे आकाश-स्थित पदार्थोंको भी ज्ञान अपने स्वरूप से ही जानता है, क्योंकि ज्ञान का स्वरूप से ही स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। तथा जिस समय आत्मा अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य से स्व को प्रकाशित करता है, उसी काल में तथा उसीप्रकार कालभेद किए बिना एक समय में तीनलोक व तीनकाल के सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों को भी जानता है। उसकी ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है। भाई! जो अन्तर में जागृत होकर देखे, यह बात उसी की समझ में आ सकती है। केवलज्ञान स्व को जानते हुए बाहर के दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थों को एक समय में ही एक साथ जानता है। केवलज्ञान के जानने में कालभेद नहीं होता। श्रुतज्ञान की पर्याय भी दूरवर्ती अनन्त सिद्धों को तथा समीपवर्ती समवशरण में विराजमान अरहंतदेव को एक साथ जानती है। 'स्व' को जानते हुए, 'पर' को जाने – ऐसा ही उसका स्वरूप है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि – 'बाह्य पदार्थों की असमीपता' ऐसा पहले क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि – लोगों को ऐसा न लगे कि दूरवर्ती पदार्थों को जानने में ज्ञान को कुछ अधिक समय लगता होगा। वस्तुतः बात यह है कि ज्ञान को पास या दूर के पदार्थ को जानने में ऐसा कोई फर्क नहीं पड़ता। ज्ञान में सबको एक साथ जानने की सामर्थ्य होती है।

अहो! सर्वज्ञ परमात्मा की कही हुई बात ही दिगम्बर सन्तों ने कही है। आचार्य कहते हैं कि ज्ञानानन्द स्वरूपी भगवान आत्मा असमीप या

समीप बाह्य पदार्थों को अपने स्वरूप से ही जानता है। उन ज्ञेयरूप पदार्थों के कारण ज्ञान नहीं होता। भाई! यह तो वीतरागता का मार्ग है। जरा शान्ति और धैर्य से समझने का है। दूरवर्ती परपदार्थों का ज्ञान भी अपने स्वरूप में ही रहकर, पर में प्रवेश किए बिना ही, पर का स्पर्श किए बिना ही आकाशादि को जानता है।

इसीप्रकार मनोहर या अमनोहर शब्द आदि पदार्थ, कुरूप या सुरूप, दुर्गन्ध या सुगन्ध, कड़वा या मीठा रस आदि सभी बाह्य पदार्थ वस्तुस्वभाव से विभिन्न परिणतिरूप परिणत होते हुए जीव में किंचित् भी विक्रिया अर्थात् विकार या विशेषक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है। उसे पर के कारण पर का ज्ञान तो होता ही नहीं है, पर को जानने से उसे रागादि विकार भी नहीं होते।

स्त्री के सर्वांग सुन्दर शरीर को देखने से राग, उसके करुण क्रन्दन से करुणा या कुरूप और दुराचार के कारण क्रोध व द्वेषादि नहीं होते; क्योंकि ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। जो कुछ भी विकारी व अविकारी अवस्था होती है, वह अपने ही कारण होती है; परद्रव्य के कारण नहीं। पर **पदार्थ भी स्वयं अपने कारण ही परिणमते हैं, उनमें भी जीव का कोई हस्तक्षेप नहीं चलता।**

गाली के कारण क्रोध नहीं आता; क्योंकि गाली शब्द में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि वह जीव में क्रोध उत्पन्न कर सके तथा उस गाली से तुझे द्वेष हो – ऐसा तेरा भी स्वरूप नहीं है। इसीतरह कोई अभिनन्दन करे तो उन प्रशंसा भरे शब्दों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वे तुझे रागरूप या मानरूप कर सकें।

भाई! परमाणु अपने विचित्र परिणामरूप से जो परिणमता है, वह उसके स्वभाव से ही परिणमता है। उसमें तेरा या किसी का कुछ भी योगदान नहीं रहता। सभी वस्तुओं का परिणमन पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी है। भेदज्ञान का मूल कारण यही वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता ही है।

प्रश्नः– सम्यग्दृष्टि जीव राग को अपना नहीं मानते, यह सच है;

परन्तु उन्हें भी रागादि होते तो हैं और वे उन्हें कर्म का कार्य भी समझते हैं, यह किसप्रकार संभव है?

समाधानः— ऐसा मानने में कोई विरोध नही;, क्योंकि यह श्रद्धा की अपेक्षा बात है। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में राग की किंचित् भी रुचि नहीं है। वह श्रद्धा में राग को अपना कर्तव्य या कार्य भी नहीं मानता। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्मोदय के वश उसे अन्तरंग में ऐसी कमजोरी स्वतः अपनी तत्समय की उपादान की योग्यता से रहती है, जो उसमें रागादि पर्यायरूप परिणमने का कारण बनती है। वह स्वभावजनित नहीं होने से उसे पर की या निमित्त की अपेक्षा कर्म का कार्य भी कहा जाता है। कर्म रागरूपकार्य को करता नहीं है; पर कर्मोदय की उपस्थिति में राग होता है, इस विवक्षा से कर्म से कार्य हुआ — ऐसा कहा जाता है।

भाई! परद्रव्य में ऐसी शक्ति ही नहीं है कि जो तुझमें राग उत्पन्न करा सके तथा तेरा भी ऐसा स्वरूप नहीं है कि तू पर में रागादि उत्पन्न कर सके। आत्मा पर्याय-पर्याय में — प्रत्येक पर्याय के परिणमन में पूर्ण स्वतंत्र है। विकार पर के कारण नहीं होता, पर के द्वारा नहीं होता तथा गुणों की अवस्थायें भी पर के द्वारा नहीं होती।

प्रश्न :— वज्रवृषभनाराच संहनन वालों को ही केवलज्ञान होता है, शास्त्र में ऐसा जो कथन आया है, उस कथन की क्या अपेक्षा है?

उत्तरः— भाई! वह कथन मात्र निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। वज्रवृषभनाराच संहनन से केवलज्ञान नहीं होता; क्योंकि संहनन तो जड़ की अवस्था है, वह जीव में क्या कर सकता है? जीव और पुद्गल — दोनों द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार खड़ी है। अतः वज्रवृषभ-नाराच संहनन केवलज्ञान का भले बाह्य निमित्त है, परन्तु वह केवलज्ञान का कर्त्ता या यथार्थ कारण नहीं है।

आत्मा दीपक की भाँति अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव से पर के प्रति पूर्ण उदासीन है। जिसप्रकार अपने अस्तित्व की प्रसिद्धि के लिए दीपक घट-पट को प्रकाशित करने के लिए बाध्य नहीं है और घट-पट भी प्रकाशित

होने के लिए दीपक के मुँहताज नहीं है। तथा जिसप्रकार दीपक अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव से दीपक है; उसीतरह आत्मा अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव से आत्मा है। जीव यदि नासमझ है तो वह अपने औंधे (उल्टे) पुरुषार्थ से ही नासमझ है। कर्म उसे मिथ्यादृष्टि या रागी-द्वेषी बनाता हो– ऐसी जड़कर्मों में कोई शक्ति ही नहीं है। तथा कर्म के कारण आत्मा में भूल होती है – आत्मा का भी ऐसा स्वरूप नहीं है।

आत्मा तो दीपक की भाँति पर के प्रति पूर्ण उदासीन है। यह वस्तुस्थिति है। जिसप्रकार दीपक पर को प्रकाशित करने में तटस्थ है; उसीतरह आत्मा का स्वभाव पर के प्रति तटस्थ है। जिसतरह नदी में पानी का प्रवाह चला जाता है और दोनों तट (किनारे) अपनी जगह स्थित रहते हैं; उसीतरह आत्मा जो पर को जानता है, वह पर से सम्बन्ध रहित रहकर केवल ज्ञाता-दृष्टा भाव से जानता है। यह वस्तु का स्वरूप है और यही सच्चा मोक्षमार्ग है।

अरे! इस जीव ने अबतक अनन्तकाल में अनन्तबार ग्यारह अंग तक पढ़ डाला; परन्तु वस्तुस्वरूप को नहीं जाना, अपने स्वरूप में अन्तर्दृष्टि नहीं की। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञान का सागर प्रभु है, उसके स्पर्श से पर्याय में सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ऐसा पुरुषार्थ आज तक नहीं किया।

३७३ से ३८२ गाथाओं के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, शब्दादिक पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं, अचेतन हैं। वे आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तू हमें जान।' वे तो अपने-अपने भावों से परिणमन कर रहे हैं। आत्मा भी अपना स्थान छोड़कर उनसे यह कहने नहीं जाता कि 'तुम मुझे ग्रहण करो' अर्थात् आत्मा अपना स्वरूप छोड़कर एवं शब्दादिरूप होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता। अरे! स्व-पर को जानना तो आत्मा का सहज स्वभाव है। भाई! प्रत्येक पदार्थ का द्रव्य, उनके गुण (शक्ति) और उसकी पर्यायें सर्व स्वतंत्र हैं, उनमें पर का बिल्कुल भी अधिकार नहीं है। सम्यग्दर्शन हुए बाद आत्मा में जो विकार होता है, वह भी पर के कार ; नहीं होता।

जिसप्रकार कोई यात्री एक गाँव से दूसरे गाँव जाता है तो पहला गाँव उससे ऐसा नहीं कहता कि 'तू यहीं रुक जा, दूसरे गाँव मत जा।' ठीक इसीप्रकार जब आत्मा शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि को जानता है तो वे शब्दादि उससे यह नहीं कहते कि – 'हे आत्मन्! तू हमें जानने में ही अटका रह!' तथा आत्मा भी अपने स्थान से भ्रष्ट होकर उन्हें जानने के लिए उनके साथ तन्मय नहीं होता। फिर भी यह अज्ञानी जीव अपने अन्दर में विराज रहे भगवानस्वरूप चिदानन्द प्रभु के सन्मुख नहीं होता।

अब कहते हैं कि – शब्दादि पदार्थ दूर हों या समीप हों, उन्हें आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। 'स्वरूप से जानने' का आशय यह है कि – जिसको अन्तर में निज चैतन्यस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा आत्मप्रभु का भान हो गया है, स्वयं को जानते हुए सहज ही उसका स्व-परप्रकाशक स्वभाव प्रगट हो जाता है, जिससे शब्दादि पदार्थ अपने स्व-परप्रकाशक स्वरूप से ही जानने में आ जाते है।

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श – ये सब जड़ पुद्गल के गुण हैं। वे अपन-अपने स्वभाव से ही अनेक रूप परिणमते हैं! अपने स्वभाव से ही परिणमते हुए वे जीव को जरा भी विकारी नहीं करते। चाहे प्रशंसा के शब्द हों या निन्दा के, उनसे राग-द्वेष नहीं होता। जैसे घट-पट को प्रकाशित करते हुए भी दीपक को घट-पट के कारण विकार नहीं होता।

दीपक अपने स्वरूप से ही घट-पटादि को प्रकाशित करने का काम करता है। घट-पट आदि उसको विकार के कारण नहीं बनते। दीपक के प्रकाश में कोयला प्रकाशित होता है तो क्या कोयला दीपप्रकाश को काला करता है? नहीं करता। दीपक के प्रकाश में साँप-बिच्छू होते हैं तो क्या वह प्रकाश जहरमय हो जाता है ? नहीं होता। इसीप्रकार जीव को पर पदार्थ किंचित्मात्र विकार नहीं कराते। 'आत्मद्रव्य का स्वभाव परिपूर्ण परमात्म स्वरूप है' – ऐसा सुनकर उसे हर्ष और विषाद नहीं होता; क्योंकि परपदार्थ के कारण जीवों को हष-विषाद नहीं होता। जीव का ऐसा स्वरूप ही नहीं है जिससे वह पर के कारण विकारी हो तथा वे पर पदार्थ जीव के कारण

विकारी हों।

वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ लोगों को ऐसा लगता है कि 'आत्मा...आत्मा क्या कह रहें हैं ये ? अरे ! जीवों की दया पालो, दान दो, भूखों को अनाज दो, प्यासों को पानी दो, नंगों को कपड़ा दो, रोगी को दवा दो........ आदि उपदेश तो देते नहीं हैं। बस एक आत्मा के ही गीत गाये जाते हैं।

ऐसे सोचने वालों से आचार्य कहते हैं भाई! सुन तो सही। पर की दया कौन पाल सकता है? पर को दान भी कौन दे सकता है? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – यह अनाज, कपड़ा, औषधि, पानी आदि पदार्थ यह नहीं कहते कि 'तू हमको जान'! तुझे जो स्वभावतः उन्हें जानने का या देने का मन्दराग है, उस राग के कारण उन औषधि आदि पदार्थों का दान के रूप में अनेकरूप परिणमन नहीं हुआ है। गज़ब बात है भाई!

यहाँ कहते हैं कि – यद्यपि अपने स्वरूप से ही जानने के स्वभाववाले आत्मा को अपन-अपने स्वभाव से ही परिणमते हुये – शब्दादिक किंचित्मात्र विकार नहीं करते, 'ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर भी जीव शब्दों को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूंघकर, रस को चखकर, स्पर्श को छूकर उनके गुण-दोषों को जानकर उन्हें भला-बुरा मानता है – यह अपना ही अज्ञान है। अपना ही अपराध है, इसमें पर का कोई दोष नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवंति सहजां मुंचंत्युदासीनताम्॥२२२॥

श्लोकार्थ :– (पूर्ण–एक–अच्युत–शुद्ध–बोध–महिमा अयं बोद्धा) पूर्ण, एक, अच्युत और (निर्विकार) ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक

आत्मा (**बोध्यात्**) ज्ञेय पदार्थों से (**काम् अपि विक्रियां न यायात्**) किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, (**दीप: प्रकाश्यात् इव**) जैसे दीपक प्रकाश (प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। (**तत: इत:**) तब फिर (**तद्–वस्तुस्थिति– बोध वन्ध्य– धिषणा: एते अज्ञानिन:**) जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है, ऐसे ये अज्ञानी जीव (**किम् सहजाम् उदासीनताम् मुञ्चन्ति, रागद्वेषमयीभवन्ति**) अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेषमय क्यों होते हैं ? (इसप्रकार आचार्यदेव ने सोच किया है)

भावार्थ :– जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करने का है उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागीद्वेषी-विकारी होता है जो कि अज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव ने सोच किया है कि – 'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नही रहता?' इसप्रकार आचार्यदेव ने जो सोच किया है सो उचित ही है, क्योंकि जबतक शुभराग है तबतक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है।।२२२।।

कलश २२२ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव से परिपूर्ण है तथा अनन्त गुण स्वभावमय अभेद एक है। अच्युत है अर्थात् अपने पूर्ण ध्रुव एक चैतन्य स्वभाव से कभी भ्रष्ट नहीं होता, च्युत नहीं होता। अहा ! सम्यग्दृष्टि पुरुष को अपनी पर्याय में यह निर्णय हो जाता है कि मैं पूर्ण, एक, अचल, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप वस्तु हूँ। जिसकी महिमा है, वह ज्ञायक प्रभु ज्ञेय पदार्थों से जरा भी विकृत नहीं होता। यद्यपि भगवान केवली समस्त ज्ञेयों को – तीन लोक एवं तीन काल को, तथा उनकी सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों को केवलज्ञान में एकसाथ जानते हैं, तथापि

उन्हें उनमें जरा भी राग नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि परपदार्थों को जाननेमात्र से जीवों को विकार नहीं होता। किन्तु अज्ञानी प्राणी बाह्य पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल मानता है, इस कारण उसे स्वयं राग-द्वेष होता है। बाह्य पदार्थ अज्ञानी को भी राग-द्वेष नहीं कराते। अज्ञानी स्वयं बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, भले-बुरे की मिथ्या कल्पना करता है, इस कारण उसे राग-द्वेष होता है। परज्ञेयों के कारण राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न नहीं होता। उन ज्ञेयों के जानने से भी विकार उत्पन्न नहीं होता।

देखो, लिखा भी है न कि – **'काम् अपि विक्रियां न यायात्'** अर्थात् आत्मा में ज्ञेय पदार्थों के कारण जरा भी विक्रिया नहीं होती। भाई! यदि परवस्तु के जानने से विकार होता हो तो केवली को सबसे अधिक विकार होना चाहिए; क्योंकि वे तो तीनलोक व तीनकालों की समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जानते हैं, फिर भी उन्हें किंचित् भी रागादि विकार नहीं होता।

यद्यपि आत्मा पूर्ण, अभेद, एकरूप है, तथापि उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र हैं, रागादि हैं – ऐसे भेद करना व्यवहार है – केवली भगवान ऐसे भेदों को भी जानते हैं, तथापि उनके राग नहीं होता। हाँ, रागी जीवों को पर को एवं भेदों को जानते हुये उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि होने के कारण राग-द्वेष होता है, मात्र पर को जानने के कारण नहीं।

प्रश्नः– सातवीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि – 'जब पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं है फिर उसे व्यवहार कैसे कह सकते हैं?'

उत्तरः– उसका समाधान यह है कि द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश है। अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही अभेद भली-भाँति मालूम पड़ सकता है।

अभिप्राय यह है कि भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी को विकल्प रहा करते हैं। इसलिए जबतक रागादि नहीं मिटते तबतक भेदों को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराने में आया है।

वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। वहाँ तो नयों का आलम्बन ही नहीं रहता।

देखो, इसमें बहुत सरस बात की है। पर्याय है तो वस्तुतः अपनी ही अवस्था; परन्तु यदि पर्याय और भेदों पर दृष्टि जायेगी तो सरागी को विकल्प-राग होगा, निर्विकल्पता नहीं होगी। इसकारण अभेद की दृष्टि कराने के लिए अपनी होते हुए भी पर्याय व भेदों को भी गौण करके इन्हें व्यवहार कहा है। और त्रिकाली अभेद वस्तु का आश्रय कराने के लिए अभेद को निश्चय कहा है। वीतराग होने के बाद केवली तो भेद और अभेद सब जानते हैं।

यहाँ कहते हैं कि – यह एक शुद्ध ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से जरा भी विकारी नहीं होता। जिसप्रकार दीपक प्रकाशित होने योग्य पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ विकारी नहीं होता, दीपक दीपक ही रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्य दीपक है। वह भी परवस्तुओं को जानता हुआ उनके कारण विकारी नहीं होता। ज्ञान ज्ञेयों के जानने से रागी-द्वेषी नहीं होता। यदि रागी जीव उसमें अच्छ-बुरे की कल्पना करे तो उसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

आचार्य अज्ञानियों के प्रति सोच प्रगट करते है कि 'अरे! तेरा स्वभाव तो ज्ञान है, फिर तू ज्ञान से विधुर (खाली) कैसे हो रहा है ? तू अपने स्वभाव को क्यों भूल रहा है? अरेरे ! तू अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को छोड़कर राग-द्वेषमय कैसे हो गया ?'

सर्वज्ञ परमेश्वर भी तेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। उन्हें भी 'ये ठीक हैं' ऐसा मानते ही उनके प्रति राग हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तुझे ऐसा राग भी कैसे हो जाता है ? तू जाननेरूप सहज उदासीनता को छोड़कर रागी कैसे हो जाता है ? पर को जानते ही उसके प्रति राग हो – ऐसा ज्ञेयों का स्वभाव नहीं है, फिर भी तू पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेषमय कैसे हो जाता है?

देखो, ज्ञानी को राग होता है। वह अपने आत्मा की अस्थिरता के

कारण, अपनी ही कमजोरी से होता है। परज्ञेयों को जानते हुए अज्ञानपने का राग ज्ञानी को नहीं होता। राग मुख्यतः दो प्रकार से होता है – एक तो अज्ञान से होता है, दूसरा चारित्रिक कमजोरी के कारण होता है; पर के कारण राग बिल्कुल भी नहीं होता। ज्ञानी को मात्र स्वयं की कमजोरी से ही राग होता है, पर में इष्टानिष्ट-जनित राग ज्ञानी को कतई नहीं होता।

पंचाध्यायी में आता है कि – हे ज्ञानी! तेरा तो ज्ञानस्वभाव है, सब कुछ जान। जानने से राग-द्वेष नहीं होता। पर में भले-बुरे की मिथ्या कल्पना करने से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। पंचपरमेष्ठी ठीक हैं – ऐसी कल्पना करेगा तो राग होगा। पंचपरमेष्ठी को परज्ञेयरूप से मात्र जानेगा तो राग नहीं होगा।

कलश २२२ के भावार्थ पर प्रवचन

अहाहा——! आत्मा सदा एक ज्ञायकस्वभावी प्रभु है। उसका स्वभाव मात्र ज्ञेयों को जानने का ही है। ज्ञेयों को जानने मात्र से कहीं विकार नहीं होता, परन्तु ज्ञेयों को जानकर उसमें भल-बुरे की कल्पना-भ्रान्ति करने से विकार (राग-द्वेष) उत्पन्न होता है। बस, यही अज्ञान है। पर में भला-बुरापन माननेरूप अज्ञानभाव से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। ज्ञानी को जो अस्थिरता-जनित राग होता है, यह उसकी बात नहीं है। यहाँ तो परज्ञेयों में इष्टानिष्टपने की मिथ्या कल्पना करके जो रागी-द्वेषी होता है, उसे अज्ञानी कहा है।

अहाहा——! मुनिराजों को तीन कषायों का अभाव हुआ है, फिर भी उन्हें शुभराग आता है। अहाहा ! साधु अर्थात् परमेष्ठी पद। वह परमेष्ठी पद, जिसे 'णमोलोए सव्वं साहूणं' कहकर णमोकार मंत्र में स्मरण किया है। ऐसे मुनिराजों को भी शुभभाव आता है; किन्तु वह अज्ञानजनित नहीं है, चारित्र का दोष है। 'पर से मुझे राग होता है' – ऐसा मानना अज्ञान है। मुनिराज को ऐसा अज्ञान नहीं है। उन्हें सम्पूर्ण स्वरूप-स्थिरता नहीं हुई, इसकारण अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है, वह चारित्र का दोष है। पर के कारण यदि राग का होना माने तो यह तो मिथ्यात्व का दाष है।

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
द्रारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम्।।२२३।।

श्लोकार्थ :– (राग–द्वेष–विभाव–मुक्त–महसः) जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभाव से रहित है, (नित्यं स्वभाव–स्पृशः) जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करने वाले हैं, (पूर्व–आगामि–समस्त–कर्म–विकलाः) जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और (तदात्व–उदयात् भिन्नाः) जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भिन्न हैं,(दूर–आरूढ़–चरित्रा–वैभव–बलात् ज्ञानस्यसंचेतनाम् विन्दन्ति) वे (–ऐसे ज्ञानी–) अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं– (चंचत्–चिद्–अर्चिर्मयीं) जो ज्ञानचेतना– चमकती हुई चैतन्य ज्योतिमय है और (स्व–रस–अभिषिक्त–भुवनाम्) जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रस से समस्त लोक को सींचा है।

भावार्थः– जिनका राग-द्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभाव को जिन्होंने अंगीकार किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्म का ममत्व दूर हो गया है – ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्र के बल से, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न जो अपनी चैतन्य की परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है, उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि :– जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूप का

ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् ज्ञानचेतनारूप हो जाता है।।२२३।।

कलश २२३ पर प्रवचन

देखो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र की बात करते हैं। जिन्हें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ है, उन ज्ञानीजनों को ज्ञान चेतना है, यद्यपि उन्हें कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वामीपना नहीं है, फिर इनका वेदन उन्हें भी गौणपने होता है। चारित्र की प्राप्ति में वे ज्ञानीजन कर्मचेतना व कर्मफलचेतना का अभाव करते हैं। कलश में कहा भी है कि 'जिनका तेज राग-द्वेष रूप विभाव से रहित है, जिनके स्वरूप की उग्र रमणता हुई, उनको चैतन्य तेज में राग-द्वेष का भी अभाव हो जाता है।

आत्मा अनन्त गुणों से शोभायमान शुद्ध चैतन्यमात्रवस्तु है। ऐसे आत्मा का ज्ञान श्रद्धान प्रगट होने पर उसमें अनन्त गुणों की व्यक्तता का अनन्तवाँ भाग अंश प्रगट हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी आंशिक रूप सें आने लगता है।

भाई! आत्मा में जितने भी गुण हैं, ज्ञानी धर्मात्मा के उन सभी का एक अंश व्यक्त हो जाता है। कहा भी है – जिसमें सर्व गुणांश व्यक्त हो गये हों, वह सम्यग्दर्शन है। चारित्र प्रगट होने पर तो गुणों की बहुत अधिक निर्मल दशा प्रगट हो जाती है।

देखो, चौथे गुणस्थान में तीन कषायें शेष हैं, यद्यपि आंशिक रूप में स्वरूपाचरण चारित्र है, परंतु वह संयम नाम नहीं पाता। पाँचवें गुणस्थान में चारित्र की व्यक्तता विशेष हो जाती है। मुनिराजों को प्रचुर स्वसंवेदन होता है जिसमें वीतराग आनन्द और शान्ति अति उग्रपने अनुभव में आती है, बस वही यथार्थ चारित्र है। चारित्र में तो सुख, शान्ति, निराकुलता और वीतरागता की व्यक्तता का बहुत अधिक अंश पर्याय में प्रगट हो जाता है; परन्तु पूर्णता यहाँ भी नहीं होती। पूर्णता तो केवलज्ञान होने पर ही होती है।

भाई! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की बाह्य श्रद्धा भी परमार्थ से समकित नहीं है। इनकी श्रद्धा को तो सद्‌निमित्त की अपेक्षा समकित कहा गया है। इसी भाँति बाह्य व्रत, तप, भक्ति आदि चारित्र नहीं हैं। भक्ति आदि के परिणाम तो रागरूप हैं; जोकि आस्रव हैं। चारित्र की व्याख्या करते हुए तो आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि – जिसका तेज राग-द्वेष रहित हो गया है, वह आत्मा चारित्रवन्त है। चतुर्थ गुणस्थान में स्वानुभव होते हुए भी संयम नहीं है। यहाँ तो उस चारित्र की बात है, जिसमें चैतन्य का तेज राग-द्वेष रहित हो गया है।

अहाहा—! श्लोक में कितनी गंभीरता है। भाई! सातवें गुणस्थान में चैतन्य का तेज बहुत अधिक बढ़ जाता है। जिस तरह पूर्णमासी को समुद्र में ज्वार आता है, बरसात में नदियों में बाढ़ आती है, उसी तरह मुनिराज के अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द के ज्वार आते हैं। प्रचुर स्व-संवेदन ही मुनिराजों का भावलिंग है।

अहा—! मुनिराजों के बाहर में देह की दशा वस्त्र रहित होती है और अन्दर में राग-द्वेष रूप विभाव से रहित चैतन्य का तेज होता है।

मुनिराजों को छठवें गुणस्थान में किंचित् विकल्प आता है; परंतु तुरन्त ही सातवें गुणस्थान में जाकर अतीन्द्रिय आनन्द में डुबकी लगा लेते हैं। मुनिराज सदैव अपने चैतन्य चमत्कार मात्र स्वभाव का वेदन करनेवाले हैं। चौथे एवं पाँचवें गुणस्थान में तो उपयोग अन्दर क्वचित्-कदाचित् ही जाता है। कभी दो दिन में, कभी पंद्रह दिन में, कभी दो महीने में; किन्तु दिगम्बर भावलिंगी सन्त मुनिवरों को तो बारम्बार शुद्धोपयोग आ जाता है। छठवें गुणस्थान में मुनिराजों को जो पाँच महाव्रतों को पालने के शुभ विकल्प आते हैं, वे भी उन्हें बोझ लगते हैं, अशुभ भावों का तो उनके अस्तित्व ही नहीं होता। अहाहा—! मुनिराज तत्काल उस विकल्प के बोझ को छोड़कर अपने स्वभाव का स्पर्श करने लगते है, स्वरूप में चले जाते हैं।

देखो, यह चारित्र की दशा! भूतकाल के राग से रहित होना प्रतिक्रमण

है और भविष्यकाल के राग से रहित होना प्रत्याख्यान है तथा वर्तमान राग से रहित होना आलोचना है। तीनों ही बातें कलश में कहीं हैं। भाई ! समस्त कर्मों से रहित दशा का नाम चारित्र है। बापू! चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को एवं पाँचवें गुणस्थान में श्रावकों को तो आर्त-रौद्र ध्यान भी होता है। ध्यान रहे, पर के कारण नहीं होता, बल्कि उनकी स्वयं के पुरुषार्थ में ही ऐसी अस्थिरता जनित कमजोरी रहती है।

देखो! अष्टापद पर्वत पर से भगवान ऋषभदेव मोक्ष पधारे। उनकी खबर सुनते ही भरतजी की आँख में आंसू छलक आये। अहा ! देखो, भरतजी समकिती हैं, ज्ञानी हैं, तो भी भगवान के विरह में वे रो पड़े। उन्हें लगा कि भरतक्षेत्र का चैतन्य सूर्य अस्त हो गया, भगवान का विरह हो गया। ऐसा विचार आते ही उनकी आँखों में आंसू आ गये। तब इन्द्र उन्हें समझाता है कि – अरे! भरतजी, आपको यह क्या हो गया ? अरे ! तुम्हें भी तो इसी भव से मुक्त होना है। आप को यह रुदन शोभा नहीं देता।

भरतजी कहते हैं – 'मुझे सब पता है; परन्तु क्या करूँ ! वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से अस्थिरता के कारण ऐसा राग आ गया है। सो हम तो इन सब परिस्थितियों के भी ज्ञाता ही हैं, कर्ता नही हैं,, रोना आ गया, उसे भी जान लिया!

देखो, ज्ञानियों को भी कमजोर भूमिका में राग हो जाता है। यहाँ मुनिराज को तो राग रहित चैतन्य तेज प्रगट हुआ है। बारम्बार आत्मा का स्पर्श करते हैं और समस्त कर्मों से रहित हुए हैं।'

देखो, '**तदात्व उदधात् भिन्नाः**' अर्थात् भगवान आत्मा वर्तमान काल के कर्मोदय से भिन्न है। देखो, बारहवीं गाथा की टीका में '**परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजनवान्**' वाक्य में '**तदात्वे**' शब्द आया है, जिसका अर्थ है – व्यवहारनय तत्समय जानने पुरता अर्थात् जाना हुआ प्रयोजनवान है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-दर्शन निर्मल हुए हैं, परन्तु अभी पर्याय में चारित्र की अशुद्धता है। वह उस काल में मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है।

उस जीव के प्रति समय शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता घटती है। वह उस काल में जानने पुरता प्रयोजनवान है। ऐसा वहाँ (१२वीं गाथा में) कहा है। यहाँ भी 'तदात्व' अर्थात् वर्तमान में जो उदय आता है उससे यह भिन्न हुआ है – यह बात है।

अहाहा.........! मुनिराज के आनन्द के प्रचुर स्व-संवेदन जनित प्रचुर निज वैभव प्रगट हुआ है। भूतकाल के कर्मों को वे पीछे त्याग चुके हैं, जिसे आगम भाषा में प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रत्याख्यान के रूप में भविष्य के कर्मों के त्याग का संकल्प कर चुके हैं तथा वर्तमान कर्मोदय से भिन्न होकर संवर तथा आलोचन कर रहे हैं। अहाहा––! वर्तमान जो कर्म उदय में आते हैं, उनसे वे स्वयं को भिन्न अनुभव करते हैं।

प्रभु ! तेरे बड़प्पन का क्या कहना ? तेरी महिमा अपरम्पार है। तथा जो वर्तमान पर्याय में कुछ हीनपना है, वह तो मात्र जानने की बात है, मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है। तात्पर्य यह कि अपनी वर्तमान कमजोरी को जाने बिना उसका त्याग कैसे हो ? कहा भी है – **'बिनजाने तें दोष-गुणन को कैसे तजिए गहिए'।**

अहा ! मुनिराज जो अपने स्वरूप में अतिदृढ़-गाढ़-प्रगाढ़ रमणता करते हैं; वह चारित्र है और वही उनका निजवैभव है।

हजारों शिष्य हों, बहुत शास्त्रों का ज्ञान हो, लाखों व्यक्ति प्रवचन सुनते हों, जय-जयकार करते हों, – वह सब निज वैभव नहीं है। वह सब तो बाहरी वैभव है, बाह्य वस्तु है।

अहा ! ऐसे चारित्र के बल से ज्ञानी ज्ञान की संचेतना का वेदन करता है, जोकि चैतन्य ज्योतिमय है।

अहा..........! जिसकी ज्ञान पर्याय में चैतन्य का चमकता प्रकाश प्रगट हो गया है। चौथे गुणस्थान में चैतन्य का अल्प प्रकाश है, परन्तु चारित्र में गाढ़ अन्तर्लीनता होने पर चैतन्य के तेज की भारी चमक अन्दर प्रगट हो जाती है। अहाहा.........! ऐसी अन्तर दशा का वर्णन जड़ भाषा में कैसे करे ? उसका कथन करने के लिए भाषा पंगु साबित होती है। बस,

'चमकती चैतन्य ज्योतिमय' शब्दों से जो भी कहा गया है, उसके गंभीर भावों को अपने भावों से ग्रहण करना होगा।

ज्ञानचेतना निजरस से समस्त लोक को सरस करती है, भिगो देती है। जिसे ऐसी ज्ञानचेतना प्रगट होती है, उसे लोकालोक का ज्ञान हो जाता है। निजरस से समस्त लोक को सींचती है अर्थात् ज्ञान में छह द्रव्यमय समस्त लोक जानने में आ जाता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों के होने पर ही मोक्ष दशा प्रगट होती है। अकेले सम्यग्दर्शन से मुक्ति नहीं मिलती – ऐसा यहाँ कहा है। ज्ञान संचेतना का अति उग्र वेदन होने पर ज्ञान की पूर्ण दशा प्रगट हो जाती है तथा पूर्णज्ञान प्रगट होने पर उसमें लोकालोक जानने में आ जाता है।

कलश २२३ के भावार्थ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीवों के तीन कषायें विद्यमान हैं। उनके अभी राग-द्वेष है। पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकों को भी अभी राग-द्वेष है, आस्रव-बन्ध है, दुःख है। यहाँ कहते हैं कि जिनको राग-द्वेष नहीं रहे और अपना चैतन्य स्वभाव अंगीकार हो गया; वे ज्ञानीजन सर्व परद्रव्यों से पृथक् होकर अपने स्वरूप में रमणता रूप चारित्र को ग्रहण करते हैं।

अहाहा......! जिन्हें चैतन्यमूर्ति, वीतरागमूर्ति आत्मप्रभु का प्रगाढ़ स्पर्शन-वेदन हो गया है और जिसका अतीत-अनागत व वर्तमान – तीनों काल संबंधी कर्मों का ममत्व छूट गया है, वे स्वरूप में स्थिरता रूप चारित्र को अंगीकार करते हैं। अहा! ऐसा चारित्र कोई अलौकिक वस्तु है। भाई! पंच परमेष्ठी पद में जिनका स्थान है, जिनको प्रचुर आनन्द की दशा अनुभव में आती है तथा जिनमें स्वरूप रमणता का अतिशय तेज प्रगट होता है – ऐसा चारित्र ही लोक में सर्वोत्तम पदार्थ है।

देखो, चौथे व पाँचवे गुणस्थान में अभी जो वेदनरूप कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है, मुनिराज के वह भी नहीं होती। उनके तो मात्र ज्ञानचेतना है।

पुण्य-पाप के भावों का होना-करना कर्मचेतना है तथा हर्ष-शोक का

वेदन करना कर्मफलचेतना है। ये मुनिराजों के नहीं होते। उनके इनसे जुदी ज्ञानानन्द स्वरूप के परिणमन रूप ज्ञानचेतना का अनुभवन होता है। राग का करना व राग का वेदन मुनिराजों के छूट गया है। उनके तो केवल आनन्द का वेदन है। अहा......! ऐसे चारित्रवन्त मुनि मोक्ष के अत्यन्त निकट होते हैं।

प्रश्न :— आप मुनिराजों की ऐसी स्तुति करते हो, फिर भी लोग ऐसा क्यों कहते हैं कि आप मुनियों को मानते ही नहीं ?

उत्तर :— अरे भाई ! मुनिराज को कौन नहीं मानता ? मुनियों का पद तो परमेश्वर का पद है; किन्तु यथार्थ मुनिपना तो होना ही चाहिए न!

तात्पर्य यह है कि — जीव पहले तो रागरूप या विकारीभाव रूप कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से जुदी अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम प्रमाण से जानता है और इसका दृढ़ श्रद्धान करता है तथा ऐसी दृढ़ श्रद्धा करता है कि ये कर्मचेतना व कर्मफलचेतना — दोनों आस्रव हैं, बन्ध के कारण हैं; दुःखरूप हैं, दुःख के कारण हैं, आत्मा के निराकुल स्वभाव से दोनों विरुद्ध भाव हैं। ये दोनों चेतनायें एक साथ ही होती हैं। राग के समय ही राग का वेदन होता है।

देखो, समयसार गाथा १०२ में आया है —

जं भावं सुहमसुहं, करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्सदु वेदगो अप्पा।।१०२।।

जो जीव अपने जिन शुभ या अशुभ भावों को करता है, वह उन भावों का कर्ता अवश्य होता है तथा वे भाव उसके कर्म होते हैं और आत्मा उन भावरूप कर्मों का भोक्ता होता है। प्रभु ! एक बार तू आत्मा का स्वरूप सुन तो सही ! चैतन्यस्वभाव से भरा भगवान अकेला अनाकुल आनन्द के रस का दल है। उसमें जितने पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे सब आत्मा की शान्ति एवं आनन्द के विरुद्ध हैं। यहाँ शुभ-अशुभ भावों को कर्म अर्थात् कार्य कहा है। ये कार्य ही कर्मचेतना है तथा उस काल में उनका वेदन होना कर्मफलचेतना है। जड़कर्मों एवं उनके उदय से प्राप्त फल की बात

नहीं है। भाई ! जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे धर्म नहीं हैं, कर्म हैं। सीधी भाषा में कहें तो सभी भाव स्वभाव के विरुद्ध भाव होने से अधर्म ही हैं। कर्मचेतना व कर्मफलचेतना – दोनों ही भाव विकारी भाव हैं, विपरीत भाव हैं। पहले इन्हें शुद्ध आत्मा से भिन्न जानो। सातों तत्त्वों में आस्रव से ज्ञायक तत्त्व को भिन्न कहा है न ! अहाहा.......! ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्र होना ज्ञानचेतना है।

पाँच महाव्रत के परिणाम भी राग हैं, आस्रव हैं; आत्मा के चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध हैं – ऐसा शास्त्रों में कहा है। इनसे अपनी निर्मल ज्ञानचेतना परिणति भिन्न है – ऐसा नक्की करना।

अब कहते हैं कि राग से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप अनुमान ज्ञान से जानकर नक्की करना चाहिए जैसे कि – जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा तथा जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ आत्मा नहीं।

देखो, यह सम्यग्दर्शन प्रगट करने की विधि है। वह ज्ञानचेतना आगम एवं अनुमान से नक्की होने पर स्व-संवेदन प्रमाण से जानी जाती है। ज्ञान व आनन्द के वेदन से आत्मा को जानना स्व-संवदेन प्रमाण है।

ऐसा स्व-संवेदन और श्रद्धान चौथे गुणस्थान की अविरत दशा में होता है। यद्यपि अभी इस गुणस्थान में पुण्य-पाप के भाव, विषयवासना के भाव होते हैं; परन्तु प्रतीति में ज्ञायकस्वभावी आत्मा आ गया है तथा रागादि से एकत्वबुद्धि छूट गई है। अब राग में स्वामित्व नहीं रहा।

जब अन्तरंग में शान्ति और शुद्धि की विशेषता हो जाती है, वृद्धि होने लगती है तब पाँचवाँ गुणस्थान हो जाता है। उन्हें स्व-संवेदनज्ञान और श्रद्धान और भी अधिक दृढ़ होता जाता है। परन्तु वहाँ भी सर्वविरति नहीं है। मुनिराज की प्रमत्त दशा में ऐसा स्व-संवेदनज्ञान और श्रद्धान प्रचुर रूप से होता है। किन्तु मुनिराज के भी संज्वलन संबंधी किंचित् राग की सत्ता रहती है अतः वे भी सर्वथा निरास्रव नहीं है। पाँचमहाव्रत, पाँचसमिति, तीनगुप्ति, जिनस्तुति-भक्ति, वन्दना आदि का किंचित् राग आता है, अतः अभी आस्रव होता है फिर भी इस दशा में शुद्धि की वृद्धि विशेष है।

इसप्रकार स्व-संवेदन ज्ञानचेतना का आगम, अनुमान और स्वानुभव से वेदन चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थान में होता है।

अब कहते हैं कि छठवें गुणस्थान में तीन कषायों का अभाव है, परन्तु अभी भी व्रतादि के विकल्प होते हैं इस कारण मुनिराज भी सम्पूर्ण रूप से निरास्रव नहीं हैं। छठवें गुणस्थान वालों को आगम में सास्रव समकिति कहा है; क्योंकि अभी उनकी प्रमत्त दशा है। व्रत-तप-दया आदि के विकल्प हैं। यद्यपि यहाँ भी ज्ञानचेतना से दृढ़ सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान है; परन्तु प्रमाद है न ! जब सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त दशा होती है, तब वह अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है। यद्यपि यहाँ भी अशुद्धि पूर्वक राग रहता है; परन्तु उसको यहाँ गौण किया है। अप्रमत्त दशा में ध्यान में ऐसा जम जाता है कि ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय तथा ध्यान-ध्याता-ध्येय का कोई भेद ही नहीं रहता। यह चारित्र के अन्तर वैभव की अपूर्व बातें हैं।

अहा.......! प्रमत्त अवस्था का त्याग होने पर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में अपने स्वरूप का ही ध्यान होता है। परमात्मप्रकाश में आता है कि जहाँ तक अपने स्वरूप का ध्यान करने का विकल्प उठता है, तबतक वह आस्रव है, निरास्रव नहीं है।

वहाँ एक विशेष बात यह भी कही है कि जो महाव्रत आदि का शुभराग है उसे जो उपादेय माने उसने निश्चित ही आत्मा को हेय माना है तथा जिसे आत्मा उपादेय है, उसे सर्वराग हेय होता है।

अहा ! मुनिराज सातवें गुणस्थान में सर्व विकल्प तोड़कर एक निज स्वरूप का ही ध्यान करते हैं। ऐसी अप्रमत्त दशा निरास्रव है। जब वे मुनिराज निजस्वरूप का ध्यान करते हैं, उस समय वे उसी ज्ञानचेतना में लीन होते हैं, जिसका उन्होंने प्रथम श्रद्धान किया था तथा श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करके साक्षात् ज्ञानचेतना रूप हो जाते हैं।

यद्यपि मुनिराज को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ है। परन्तु जबतक ऐसाी भी विकल्प रहता है कि 'शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, एकरूप हूँ', तब तक

सास्रव दशा है। उसे सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। जब वे मुनिराज अन्तर्बाह्य जल्प से रहित, सर्व विकल्पों से रहित होकर स्वरूप में ही ठहर जाते हैं, लीन हो जाते हैं, तब समाधि की दशा प्रगट होती है। वहाँ स्वरूप स्थिरता की जमावट बढ़ते-बढ़ते पूर्ण आनन्द और पूर्ण केवलज्ञान की दशा प्रगट होती है। तब वे साक्षात् ज्ञानचेतना रूप जाते हैं।

देखो, केवलज्ञानी जीव को साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होने के पहले भी निर्विकल्प अनुभव के समय जीव को उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। ज्ञानचेतना का उपयोगात्मकपना मुख्य न करें तो सम्यग्दृष्टि के भी ज्ञानचेतना निरन्तर होती है, कर्मचेतना व कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उनको निरन्तर ज्ञान के स्वामित्व भाव से ही परिणमन होता है। कर्म व कर्मफल के स्वामित्व भाव से परिणमन नहीं होता।

अज्ञानी जीव ने अनन्तकाल से आजतक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। अपना उपयोग शुद्धचैतन्य में नहीं जोड़ा, उसने अपना वर्तमान उपयोग पुण्य-पाप और उसके फल में ही जोड़ा है। इसकारण अज्ञानी को अनादि से कर्मचेतना व कर्मफलचेतना ही वर्तती है।

जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब उसके ज्ञान व आनन्द का दल आत्मा का स्पर्श करता है। जब वह अन्तर में जागृत होकर निजज्ञान स्वभाव में चेतता है, उसकाल में उसका उपयोग शुद्ध-निर्विकल्प होता है, उसके उपयोग में जब त्रिकाली द्रव्य का ध्यान होता है, उसकाल में उसके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना रूप परिणमन होता है तथा उसका बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है। यह आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप भगवान है। जब इसके वेदन में उपयोग अन्तर्लीन होता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है, यही निर्विकल्प उपयोग है। इस निर्विकल्प उपयोग के काल में निज प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस निर्विकल्प उपयोग के समय जीव के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है।

ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकपन को यदि मुख्य न करें तो सम्यग्दृष्टि को ज्ञानचेतना निरन्तर होती है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि को लब्धि

रूप ज्ञानचेतना सदैव रहती है। ज्ञान का उपयोग स्वरूप से हट जाने पर यद्यपि समकिती को भी विकल्प होते हैं तथापि जीव को जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, ज्ञानचेतना प्रगट हुई है, वह उसे सदैव कायम रहती है। भले वह व्यापार-धंधे में उलझा हो या किसी अन्य विकल्पों में अटका हो। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' – ऐसा भाव उसे निरन्तर रहता ही है। वह विकल्प के साथ कभी तद्रूप नहीं होता। अहो ! भगवान केवली और उनकी दिव्यध्वनि के विवेचक सन्त ऐसा अदभुत सुखद उत्तराधिकार हमें सौंप गये हैं।

समकिती को कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती। ऐसा नहीं है कि उन्हें पुण्य-पाप के विकल्प व हर्ष-शोक के भाव सर्वथा होते ही नहीं हैं, किन्तु उन्हें कर्म व कर्मफल में स्वामित्वपने परिणमन नहीं होता। वे निरन्तर ज्ञान के स्वामित्व भाव से ही परिणमते है, पुण्य-पाप आदि के ज्ञाता ही रहते हैं। इनके पुण्य-पाप आदि भावों का परिणमन है, परन्तु उनका स्वामित्व नहीं है। इस कारण दृष्टि की प्रधानता में ज्ञानचेतना की मुख्यता करके तथा कर्मचेतना व कर्मफलचेतना को गौण मानकर वे ज्ञानी के नहीं हैं – ऐसा कहा है।

'मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान हूँ' जो इसप्रकार निजचैतन्य सत्ता का स्वामी हुआ, वह भले ही बाहर में राज-पाट में उलझा हो, तो भी उसके ज्ञानचेतना का सद्भाव है। जबतक पूर्ण वीतराग नहीं हुआ, तबतक उसे जो दया-दान-पूजा का एवं राज-काज संभालने का भाव आता है – वह कर्मचेतना है। ऐसी कर्मचेतना के रहते हुए भी ज्ञानचेतना को मुख्य एवं कर्मचेतना को गौण करता है। समकिती के पुण्य-पाप का परिणमन है , पर उनका स्वामित्व उनके नहीं है। ज्ञानी बाहर में कहीं भी कर्ता-भोक्तापने की बुद्धि नहीं करता है।

अब कहते हैं कि – जो आत्मा अतीत कर्मों के प्रति ममत्व छोड़ता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे अर्थात् जिनभावों से आगामी कर्म बंधते हैं, जो आत्मा उन भावों का ममम्व छोड़े वह आत्मा प्रत्याख्यान है तथ जो उदय में आते हुए वर्तमान कर्मों का

ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है। ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना पूर्वक वर्तता हुआ आत्मा चारित्र है।

देखो, यहाँ यह कहा है कि भूतकाल में हुए दया-दान आदि के शुभभाव या हिंसा आदि के अशुभ विकल्पों से पीछे हटकर अन्दर अपने निज स्वरूप में स्थिर हो जाना, ठहर जाना आत्मा का प्रतिक्रमण है। मैं तो एक ज्ञाता-दृष्टा आत्माराम हूँ – ऐसा अन्तर में एकाग्र होकर स्वरूप में लीन होकर रमण करना प्रतिक्रमण है।

अहो ! ऐसा एक समय का प्रतिक्रमण जन्म-मरण का अभाव करने वाला है। अनन्त-अनन्त भूतकाल बीत गया, उसमें जो पुण्य-पाप के भाव हुए, उनके प्रति ममत्व को छोड़ना, 'ये भाव मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानानन्द सहजानन्द स्वरूप प्रभु हूँ' – ऐसा जानकर उसमें ही अन्तर्लीन होकर रमने को भगवान ने प्रतिक्रमण कहा है।

भविष्य में शुभाशुभ कर्म न करने की प्रतिज्ञा का नाम प्रत्याख्यान है। दया-दान, व्रत-भक्ति आदि शुभभाव तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि अशुभभाव भविष्य में नहीं करने की प्रतिज्ञा करके अपने स्वरूप में रमने का नाम प्रत्याख्यान है।

जो वर्तमान में उदय में आते हुए कर्मों का ममत्व छोड़ता है, वह आत्मा आलोचना है। निजज्ञानानन्द परमानन्दमय स्वरूप को जानकर उसी में लीन हो जाना आलोचना है। ये जो निश्चय प्रतिक्रमण आदि हैं, वे संवर हैं, निर्जरा हैं तथा मोक्ष के मार्ग हैं ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना पूर्वक वर्तता हुआ आत्मा चारित्र है। ऐसे ही चारित्र का विधान आगामी गाथाओं में कहेंगे।

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावों से आगामी कर्म बंधे उन भावों का ममत्व छोड़े) वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना पूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है – ऐसे चारित्र का विधान आगामी गाथाओं द्वारा कहेंगे। ◆

समयसार गाथा ३८३ से ३८६

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा।।३८५।।

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्।।३८३।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता।।३८४।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम्।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता।।३८५।।

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण हैं।।३८३।।
शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें।
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है।।३८४।।
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इसकालमें।
उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव हैं।।३८५।।

गाथार्थ :– (पूर्वकृतं) पूर्वकृत (यत्) जो (अनेकविस्तरविशेषम्) अनेक प्रकार के विस्तारवाला (शुभाशुभम् कर्म) (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म हैं; (तस्मात्) उससे (यः) जो आत्मा (आत्मानं तु) अपने को (निर्वतयति) दूर रखता है (सः) वह आत्मा (प्रतिक्रमणम्) प्रतिक्रमण है।

(भविष्यत्) भविष्यकाल का (यत्) जो (शुभम् अशुभं कर्म) शुभ-अशुभ कर्म (यस्मिन् भावे च) जिस भाव में (बध्यते) बँधता है।

णिच्चंपच्चक्खाणं कुव्वदिणिच्चंपडिक्कमदिजोय।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा।।३८६।।

नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता।।३८६।।

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यान भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंत भेदनोपलभमानः आलोचना

(**तस्मात्**) उस भाव से (**यः**) जो आत्मा (**निवर्तते**) निवृत्त होता है, (**सः चेतयिता**) वह आत्मा (**प्रत्याख्यानं भवति**) प्रत्याख्यान है।

(**संप्रति च**) वर्तमान कालमें (**उदीर्णं**) उदयागत (**यत्**) जो (**अनेकविस्तर विशेषम्**) अनेक प्रकार के विस्तारवाला (**शुभम् अशुभम्**) शुभ और अशुभ कर्म है (**तं दोषं**) उस दोष को (**यः**) जो आत्मा (**चेतयते**) चेतता है – अनुभव करता है – ज्ञाताभाव से जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व – कर्तृत्वको छोड़ देता है), (**सः चेतयिता**) वह आत्मा (**खलु**) वास्तव में (**आलोचनं**) आलोचना है।

पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है।।३८६।।

गाथार्थ :– (**यः**) जो (**नित्यं**) सदा (**प्रत्याख्यानं करोति**) प्रत्याख्यान करता है, (**नित्यं प्रतिक्रामति च**) सदा प्रतिक्रमण करता है और (**नित्यम् आलोचयति**) सदा आलोचना करता है, (**सः चेतयिता**) वह आत्मा (**खलु**) वास्तव में (**चरित्रं भवति**) चारित्र है।

टीका :– जो आत्मा पुद्‌गलकर्मके विपाक (उदय) से हुये भावोंसे अपनेको छुड़ाता है (दूर रखता है), वह आत्मा उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकालके कर्मोंको) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण

भवति। एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोच -यंश्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यंत निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं त भवन् स्वस्य ज्ञान -मात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः।

वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों को (भविष्यकालके कर्मोंका) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाक को अपनेसे (–आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ आलोचना है। इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मोंके कार्यरूप और उत्तरकर्मोंके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्म विपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ अपने में ही – ज्ञानस्वभावमें ही – निरन्तर चरने से (–आचरण करनेसे) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है) और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपने को, ज्ञानमात्र को, चेतता (अनुभव करता) है इसलिये (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है।

भावार्थ :– चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषों से आत्माको निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्य में दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्मा को पृथक् करना सो आलोचना है। यहाँ निश्चय चारित्रको प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चय से विचार करने पर जो आत्मा त्रिकालके कर्मों से अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप, प्रत्याख्यान स्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्माका निरंतर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञानका अनुभवन) है।

उसी ज्ञानचेतनासे (अर्थात् ज्ञानके अनुभवनसे) साक्षात् ज्ञानचेतना स्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।

समयसार गाथा ३८३ से ३८६ पर प्रवचन

देखो, यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि वर्तमान दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के जो परिणाम होते हैं, वे दोष हैं, वे आत्मा की दशा नहीं हैं। इन दोषों से हटकर, इन्हें छोड़कर निज अन्तरस्वरूप में – ज्ञानानन्दस्वरूप में रमने को चारित्र कहते हैं।

अहाहा——! भगवान आत्मा अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य, स्वच्छता, प्रकाश व वीतराग के स्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ है यदि अन्दर में पूर्ण स्वभाव से भरा न हो तो अरहन्त और सिद्ध दशा कहाँ से प्रगट हो ? परन्तु अज्ञानी को यह बात समझ में आना कठिन है। यद्यपि अशक्य नहीं है; पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ तो है ही; क्योंकि इस जीव ने अनादि से अपने स्वरूप का विचार ही नहीं किया।

यहाँ कहते हैं कि पुद्गलकर्म के विपाक से हुए भावों से जो स्वयं को निवृत्त करता है, वह आत्मा पूर्वकर्म का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है। आठों कर्म जड़ हैं, इनके उदय आने पर हुए पुण्य-पाप के भावों से जो स्वयं को निर्वृत्त करता है, वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है।

अब प्रत्याख्यान की बात कहते हैं – पुण्य-पाप के भावों के कार्यभूत भविष्यकाल के कर्मों को निज स्वरूप की स्थिरता द्वारा त्यागता हुआ आत्मा ही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

देखो, एक ही समय में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान है –

1. जिस समय आत्मा पुण्य-पाप के भावों से निर्वृत्त हुआ, उसीसमय उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्म से निर्वृत्त हुआ है, इसलिए वह आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है।

2. उसी समय उन भावों के कार्यभूत भविष्य के कर्मों से निर्वृत्त हुआ, इसलिए वही आत्मा स्वयं ही प्रत्याख्यान है।

3. तथा उसीसमय वर्तमान कर्मों के उदय से निर्वृत्त हुआ इसलिए आत्मा स्वयं ही आलोचना है।

बस इसी का नाम चारित्र है। भाई जो शुभाशुभ भाव हैं; वे अचारित्र हैं, अप्रतिक्रमण हैं, अप्रत्याख्यान हैं। ये सब आस्रव भाव हैं, इनसे निर्वृत्त होकर स्वरूप में एकाग्र होना ही भावसंवर है, चारित्र है, प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, आलोचना है।

अब आलोचना की बात विस्तार से कहते हैं –

वही आत्मा स्वयं को वर्तमान कर्म विपाक से भिन्न अनुभवता हुआ स्वयं ही आलोचना है। बापू! अपना स्वरूप तो अकेला आनन्द और शान्ति है। वर्तमान कर्म विपाक से मुक्त होकर, पुण्य-पाप को भी छोड़कर अन्दर स्वरूप में ठहरना ही वस्तुतः आलोचना है, यही संवर है। यह एक समय की स्वरूप स्थिति की दशा है; इसे ही पूर्व कर्म से निर्वृत्त होने की अपेक्षा प्रतिक्रमण कहते हैं, भविष्य के कर्म से निर्वृत्त होने की अपेक्षा प्रत्याख्यान कहते हैं और वर्तमान कर्मविपाक से निर्वृत्त होने की अपेक्षा आलोचना कहते हैं। यही चारित्र है।

यह चारित्र का अधिकार है। यह चारित्र उन्हें होता है, जिन्होंने प्रथम आत्मदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया हो। आत्मा शुद्धचैतन्य वस्तु परम स्वभाव भाव रूप है उसके सन्मुख होकर जो स्व-संवेदन होता है, वह सम्यग्ज्ञान है तथा उनका जो श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे ज्ञान-दर्शन पूर्वक ही चारित्र होता है। यह उसे प्राप्त करने की विधि का विधान है। बिना सम्यग्दर्शन हुए चारित्र संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन हुए बिना कोई कितने भी व्रत-नियम-तप आदि करे; पर वह सम्यक्चारित्र नहीं है, संयम भी नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शनपूर्वक हुए यम अर्थात् व्रतों और स्वरूप स्थिरता को संयम कहते हैं। जिन्हें राग की क्रिया में संयम भासित होता है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं।

जिनको सम्यग्दर्शन ज्ञान हुआ है, उन्हें अभी अस्थिरता का भाव है। इस अस्थिरता से निर्वृत्त होकर स्वभाव में प्रवर्तना, रमना, लीन होना

आलोचना है। तथा वही भूत व भावी कर्म से निर्वृत्त होने की अपेक्षा प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है। यह चारित्र की विधि है।

भाई! व्रत, भक्ति, दया, आदि पालने रूप जो भाव होते हैं, वह अस्थिरता है, उनसे निर्वृत्त होने की यह बात है। जिनसे निर्वृत्त होना है, अज्ञानी उसे ही संयम व चारित्र मानने लगता है। भले ही मुनिराजों को निश्चयचारित्र के साथ यह व्यवहार सहचारीपने हो; परन्तु यह शुभभावरूप व्यवहार चारित्र नहीं है। वस्तुतः वह चारित्र का कारण भी नहीं है।

'मैं प्रतिक्रमण करुँ, प्रत्याख्यान करुँ, आलोचना करुँ' – ऐसे जो विकल्प हैं – ये सब राग हैं, ये चारित्र नहीं है, क्योंकि ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप ही नहीं हैं। कहते हैं कि – जो आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के, चैतन्य स्वरूप के आश्रय से राग की एकत्वबुद्धि तोड़कर, अस्थिरता रूप राग से निर्वृत्त होकर स्वभाव में लीनता रूप प्रवृत्ति करता है, वह आत्मा ही प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, संवर है तथा इसी का नाम चारित्र है।

यह देह की क्रिया प्रतिक्रमण व चारित्र नहीं है। भाई! देह तो मिट्टी का घड़ा जैसा है, जो क्षण भर में टूट जायेगा। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि पूर्वकर्मों के कार्य और उत्तरकर्मों के कारण ऐसे जो पुण्य-पाप आदि भाव धर्मात्माओं को अपनी दशा में होते हैं, उनसे निर्वृत्त होकर अपने ज्ञानस्वभाव में वर्तना, रमना, ठहरना चारित्र है। परभावों से निर्वृत्त हुआ एक ज्ञानभाव में ही निरन्तर विचरता आत्मा स्वयं ही चारित्रस्वरूप है।

अहा! ज्ञानस्वभाव तो ज्ञायकस्वरूप है। जिसकी सत्ता में जानना होता है, वह चेतन है। वस्तुतः तो वह चेतन की सत्ता को ही जानता है। जिसकी सत्ता में पदार्थों का अस्तित्व ज्ञात होता है, वह चेतन सत्ता है ज्ञायक स्वयं चेतन है और जो जाना जाता है वह भी चेतन है। (क्योंकि चेतन की पर्याय में ही जानना होता है।) इसप्रकार जाननेवाला – ज्ञायक जाननेवाले को – ज्ञायक को ही जानता है तथा जानता हुआ उसी में रमता है, विचरता है, ठहरता है – इसी का नाम चारित्र है। समयसार नाटक में भी आता है –

समता रमता उरधता, ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता, ये सब जीव विलास।।

देखो, यह जीव का वास्तविक परिणमन–विलास बताया है।

भूत, वर्तमान और भविष्य के कर्मों से निर्वृत्त होकर एक ज्ञानस्वभाव में ही एकाकार होकर स्थिर होने का नाम चारित्र है। जो स्वयं उस चारित्र रूप सदा परिणम रहा है, उसे यदा-कदा व्यवहार प्रतिक्रमण आदि के विकल्प भी उठते हैं; परन्तु वे दोष हैं। यह बात भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आयी है।

प्रश्न :– मुख्यरूप से तो यह चारित्र ही मोक्षमार्ग है न ? सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो मात्र इसके कारण ही ठहरे न ?

उत्तर :– भाई ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र – ये भेद तो मात्र समझने के लिए हैं। ये तीनों होते तो एकसमय में ही हैं। तीनों मिलकर ही एक मोक्षमार्ग है।

यहाँ चारित्र की व्याख्या करते हैं। देखो, ज्ञानस्वभाव तो अबन्धस्वभाव है और पुण्य-पाप के भाव बन्धस्वभाव हैं, कर्मस्वभाव हैं; क्योंकि वे पूर्व कर्म के निमित्त से होते हैं तथा स्वयं नवीन कर्मबन्ध में निमित्त हैं, इसकारण पुण्य-पाप से निर्वृत्त हो तीनों कालों के कर्मों से भी निर्वृत्त होकर एक ज्ञानस्वभाव में चरना-विचरना चारित्र है और यही मोक्षमार्ग है।

नियमसार के प्रारंभ के एक श्लोक में टीकाकार कहते हैं कि हे परमात्मा ! तेरे होते हुए मैं संसारियों की भाँति मोहमुग्ध देवी-देवताओं को क्यों पूजूँ ? मैं तो भव का अभाव करनेवाले वीतरागी देवों की ही वन्दना करता हूँ।

निर्मलानन्द आत्मा में रमण करनेवाले पद्मप्रभमलधारी देव मुनिराज को देखो! पुण्य-पाप का वेदन त्यागकर चारित्रस्वरूप होते हुए एक ज्ञानमात्र आत्मा को ही वेदता हुआ होने सआत्मास्वयं ही ज्ञान चेतना है, उन्हें कर्म व कर्मफलचेतना नहीं है।

गाथा ३८३ से ३८६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ व्यवहार से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना के स्वरूप की बात कही है। इसमें अशुभ को टालकर दोषों से निर्वृत होने के लिए

शुभ विकल्प होते हैं, पर ये आत्मरूप नहीं हैं। निश्चय से तो जो आत्मा तीनों ही कालों में अपने को कर्मों से भिन्न जानता है, श्रद्धान करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना है।

देखो, यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता है, व्यवहार की क्रिया यहाँ गौण है। अतः यहाँ तो यह कहते हैं कि शुभाशुभ – दोनों ही दोषों से निर्वृत हो आत्मरूप होना ही चारित्र है। उपयोग को स्वरूप लीन करना ही निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना है।

जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होती तबतक स्वरूप की दृष्टि और चारित्र की भूमिका में व्यवहार प्रतिक्रमण के विकल्प होते अवश्य हैं; परंतु उसमें मात्र अशुभ से निर्वृत होने की ही मर्यादा होती है।

इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का ही निरंतर अनुभवन करना निश्चय चारित्र है। यही ज्ञानचेतना है। इस ज्ञानचेतना से ही साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानगम्य आत्मा प्रगट होता है।

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञान चेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल प्रगट करते हैं –

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः।।२२४।।

श्लोकार्थ :– (नित्यं ज्ञानस्य संचेतनया एव ज्ञानम् अतीव शुद्धम् प्रकाशते) निरन्तर ज्ञानकी संचेतनासे ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; (तु) और (**अज्ञान संचेतनया**) अज्ञान की संचेतना से (**बन्धः धावन**) बंध दौड़ता हुआ (**बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि**) ज्ञान की शुद्धताको रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता।

भावार्थ :– किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभवरूप

स्वाद लिया करना वह उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना वह ज्ञान का संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोगको करना, उसी की ओर (–कर्म और कर्मफल की ओर ही–) एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है। उससे कर्म का बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।।224।।

कलश २२४ पर प्रवचन

देखो, यहाँ ज्ञान और अज्ञान की संचेतना का फल कहा है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वीतरागस्वभावी शुद्ध एक चैतन्यमात्र वस्तु है। ऐसे निजस्वरूप में एकाग्र होकर जो उसे ही वेदता है, उसका ही अनुभव करता हैं, उसकी पर्याय में अत्यन्त शुद्ध ज्ञान प्रकाशित होता है, उसे शुद्धता की विशेष दशा प्रगट होती है। इसे ही संवर व निर्जरा कहते हैं। संवर व निर्जरा – दोनों साथ होते हैं। वर्तमान में जो शुद्धि होती है, वह संवर तथा विशेष रमणता से जो शुद्धि में वृद्धि होती है, वह निर्जरा है। यह चारित्र की विशेष दशा की बात है।

आत्मप्रभु चैतन्यघनस्वभावी आनन्द का कन्द है, इसमें सम्यक् प्रकार से एकाग्र होकर रमणता करने से ही आत्मा की अत्यन्त शुद्ध दशा प्रकाशित होती है, धर्म की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। देखो, यह समकिती को चारित्र प्रगट होने की विधि बताई है।

अब कहते हैं कि – पुण्य-पाप के शुभाशुभ भावरूप अज्ञान की संचेतना से अर्थात् शुभाशुभभाव में एकाग्र या तन्मय होने से अशुद्धता प्रगट होती है। यह अज्ञानचेतना ज्ञान की शुद्धता को रोकती है। उसके होने पर शुद्धता प्रगट ही नहीं होती।

पुण्य-पाप के भाव कर्मचेतना है, तथा उनका फल जो सुख-दुःख रूप

होता है, वह कर्मफल चेतना है। ये दोनों अज्ञानचेतना है। जो इन्हीं में एकाग्र होते हैं, उनको कर्मबन्ध दौड़ता हुआ आता है अर्थात् तत्काल बन्ध होता है।

भाई ! कोई दस-बीस लाख रुपयों का दान करे; जिनमन्दिर बनवाये, उसमें भगवान की प्रतिष्ठा करे तथा उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तन करे तो उसे बन्ध दौड़ता हुआ आता है, तत्काल दर्शनमोहनीय का बन्ध होता है।

प्रश्न :– क्या उसे पुण्यबन्ध नहीं होता ?

उत्तर :– भाई! दान में कदाचित् मन्दराग हुआ हो तो पुण्यबन्ध अवश्य होता है; किन्तु साथ ही राग में एकाग्रता (एकत्व) होने से दर्शनमोह का बन्ध भी तत्काल ही होता है, जोकि दीर्घ संसार का मूल कारण है। बापू! शुभराग में एकत्व होने से धर्म होना तो दूर ही रह गया, शुभ में एकत्व से तो मिथ्यात्व का ही बन्ध होता है।

अरे भाई! अन्दर में तू स्वयं पवित्रता का पिण्ड ज्ञानानन्द का सागर भगवान स्वरूप विराजमान है। उसी में एकाग्र होकर उसी में रम जा! इसी में तेरा हित है। राग से सम्बन्ध तोड़कर तू परम एकत्व-विभक्त स्वभाव में एकत्व स्थापित करके उसी में लीन हो जा – उसी में तुझे सुख की प्राप्ति होगी। इसी विधि से तुझे परमानन्द स्वरूप परमपद प्राप्त होगा। अतः राग की भावना छोड़कर शुद्धोपयोग की भावना कर! तेरे ही अन्दर में तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द भगवान पूर्ण प्रगट विराज रहा है, उसकी भावना भा! उसी में एकाग्र हो जा! तथा उसी में रमण कर, लीन हो जा! यही एकमात्र सुखी होने का उपाय है। जिनेन्द्रदेव ने इन्द्र एवं गणधरों की उपस्थिति में यही बात पुकार-पुकार कर कही है।

नाटक समयसार में कहा है –

रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसे घट मैं प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छी सौ अजाची लच्छपति हैं;
दास भगवन्त के उदास रहै जगत सौं,
सुखिया सदीव ऐसे जीव समकिती हैं।।

तू स्वयं ज्ञानादि अनन्त गुणों का समुद्र प्रभु स्वरूप अन्दर में विराज रहा है। जिसने उसे रागादि से भिन्न जानकर संभाला, जाना-पहचाना तथा जो उसी में लीन हो गया, निमग्न हो गया, उसे तत्काल धर्म प्रगट होता है, मोक्षमार्ग होता है तथा चारित्र प्रगट हो जाता है। यही सुख का सच्चा साधन है, यही चारित्र है और यही एकमात्र धर्म है।

कलश २२४ के भावार्थ पर प्रवचन

कलश में जो 'संचेतन' शब्द आया है, उसका अर्थ यह है कि वस्तु के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभव करना, उसीका स्वाद लना। भगवान आत्मा के प्रति ही एकाग्र होकर, उपयोग को उसी में जोड़कर उसके पति ही जाग्रत रहना, उसी के स्वाद में लीन रहना ज्ञान का संचेतन है, ज्ञा न-चेतना है। सम्यग्दर्शनपूर्वक उपयोग की अन्तर एकाग ता होना ही ज्ञान की संचेतना है।

अब कह ते हैं कि ऐसा स्व रूप सम झे बिना व्रत, तप व उपवास करने स क्या प योजन ? ये सब ता केवल शुभराग के प रिण ाम है । म द कषाय हुइ तो पुण्य बंध होगा। ऐसे राग में रुककर ही ता अपने चैतन्य की निर्मल दशा को रोंध डाला ह ।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु ज्ञान व आनन्दस्वरूप ह, उसम एकाग्र होकर उसी में ली होना ज्ञानचेतना है। अहाहा——! जिसतरह मोर उत्साह में आकर, आनन्द विभोर होकर जब नृत्य करता है तो उसके पंख खिलते हैं, पंख फैल जाते हैं, उसीतरह भगवान आत्मा जब निज़स्वभाव में एकाग्र होकर रमता है, तब पर्याय मे ज्ञान और आनन्द की कला खिल उठती है तथा वह ज्ञानचेतना वृद्धिंगत होकर पूण मासी के चाँद की भाँति सर्व कलाओं से खिलकर केवलज्ञान के रूप म व्यक्त हो जाती है।

देखो, पुण्य-पाप आदि कर्मरूप और कर्मफल रूप भावों में एकाग्र होकर उसी में उपयोग को रोककर रखना अज्ञानचेतना है। उससे कर्मों का बन्ध होता है, जोकि ज्ञान की शुद्धता को रोककर रखती है। स्वयं अपना आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुंज जिनचन्द्र है, उसे भूलकर व्रतादि के

राग में एकाग्र होकर प्रवर्तना मिथ्यात्व के अन्धकार में ही रहना है। उसका संसार परिभ्रमण मिटता नहीं है।

अब इसी बात को आगामी गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

भगवान आत्मा की लगन

जैसे चित्तौड़ के राणा के साथ मीराबाई की शादी हुई परन्तु साुधओं के सत्संग करने से उसे वैराग्य हो गया और वह वैरागिन होकर वहीं रहने लगी। राणा ने मीरा के पास संदेश भेजा –

मीरा! तुम घर आ जाओ, मैं तुम्हें पटरानी बनाऊँगा।'

लेकिन मीरा को तो ईश्वर की लों लग गई थी, अतः उसने राणा को जबाब में कहा –

'मैंने तो मेरे नाथ (ईश्वर) के साथ लग्न कर ली है, लों लगा ली है। इसलिए अब मेरा दूसरा पति नहीं हो सकता।'

इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव की परिणति अन्दर राग से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्य के साथ जुड़ गई है। इससे वह कहता है कि मेरी निर्मल चैतन्य परिणति का ही मैं स्वामी हूँ, राग का नहीं; और राग मेरा स्वामी नहीं। शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह आत्मा का विकार है। मैं उनका संग नहीं करूँगा। अहाहा ....! मैं तो नित्यानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति ज्ञायकबिम्ब प्रभु हूँ। इसप्रकार चैतन्यस्वरूप निजचिदानन्द भगवान आत्मा की जिनको लगन लगी है ऐसे धर्मीजीव निर्मल ज्ञान व आनन्द की परिणति के कर्ता हैं, किन्तु राग के कर्ता नहीं हैं। जहाँ राग का भी कर्ता जीव नहीं है, वहाँ पर के कर्ता होने की बात ही कहाँ रही?

– पूज्य श्री कानजी स्वामी : प्रवचन रत्नाकर भाग ४

समयसार गाथा ३८७–३८९

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८९।।

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८७।।
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८८।।
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८९।।

जा कर्मफलको वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे।
वो पुनः बांध अष्टविध के कर्मको दुःखबीजको।।३८७।।
जो कर्मफलको वेदता जाने 'करमफल मैं किया'।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको–दुःखबीजको।।३८८।।
जो कर्मफलको वेदता जीव सुखी दुःखी होय है।
वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको–दुःखबीजको।।३८९।।

गाथार्थ :– (**कर्मफलम् वेदयमानः**) कर्मके फलका वेदन करता हुआ (**यः तु**) जो आत्मा (**कर्मफलम्**) कर्मफलको (**आत्मानं करोति**) निजरूप करता है, (**सः**) वह (**पुनः अपि**) फिर से भी (**अष्टविधम् तत्**) आठ प्रकारके कर्मको (**दुःखस्य बीजं**) दुःखके बीजको– (**बध्नाति**) बांधता है।

(**कर्मफलं वेदयमानः**) कर्मके फलका वेदन करता हुआ (**यः तु**) जो आत्मा (**कर्मफलम् मया कृतं जानाति**) यह जानता (मानता) है कि

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा – कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमिति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा तु समस्तापि संसारबीजं; संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या।

'कर्मफल मैंने किया है,' (**सः**) वह (**पुनः अपि**) फिर से भी (**अष्टविधम् तत्**) आठ प्रकारके कर्मको (**दुःखस्य बीजं**) दुःखके बीजको – (**बध्नाति**) बांधता है।

(**कर्मफलं वेदयमानः**) कर्मफलको वेदन करता हुआ (**यः चेतयिता**) जो आत्मा (**सुखितः दुःखितः च**) सुखी और दुःखी (**भवति**) होता है, (**सः**) वह (**पुनः अपि**) फिर से भी (**अष्टविधम् तत्**) आठ प्रकार के कर्म को– (**दुःखस्य बीजं**) दुःख के बीज को– (**बध्नाति**) बांधता है।

टीका :– ज्ञान से अन्यमें (–ज्ञानके सिवा अन्य भावोंमें) ऐसा चेतना (–अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ,' सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकारकी है – कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें, ज्ञानसे अन्यमें (अर्थात् ज्ञानके सिवा अन्य भावोंमें) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ,' वह कर्मचेतना है; और ज्ञान से अन्य में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ,' वह कर्मफल चेतना है। (इसप्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकारसे है।) वह समस्त अज्ञान चेतना संसार का बीज है; क्योंकि संसार के बीज जो आठ प्रकारके (ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मोंका बन्ध होता है।) इसलिये मोक्षार्थी पुरुषको अज्ञानचेतना का प्रलय करनेक लिये सकल कर्मोंके सन्यास (–त्याग) का भावनाको तथा सकल कमफलके सन्यासकी भावनाको नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञान चेतनाको ही एकको सदा नचाना चाहिए।

गाथा ३८७ से ३८९ एवं टीका पर प्रवचन

क्या गज़ब की टीका है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी शान्तस्वभावी चैतन्यचन्द्र-जिनचन्द्र प्रभु हैं। गाथा में 'ज्ञान से अन्य' ऐसा जो कहा, उस 'ज्ञान' शब्द का अर्थ आत्मा है। भाई! शुभ व अशुभभाव – सभी आत्मा से अन्य हैं, जुदे हैं। उनमें अपनेपन का अनुभव करना अज्ञान चेतना है।

अरे भाई! भले ही कोई हजारों रानियों को त्यागकर वनवासी नग्न दिगम्बर साधु हुआ हो; किन्तु यदि व्रतादि के राग को ठीक मानता है, उसमें एकत्वबुद्धि करता है तो वह अज्ञानचेतना है, मिथ्यादर्शन है। वह अज्ञानचेतना दो प्रकार की है – कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना।

भगवान आत्मा के सिवाय अन्य पुण्य-पाप के विकारीभाव को 'मैं करता हूँ' – ऐसा अनुभवना-मानना कर्मचेतना है। यहाँ 'कर्म' शब्द से जड़कर्म की बात नहीं लेना। यह शुभाशुभ भावरूप भावकर्म की बात है। कर्मचेतना कहो या कार्यचेतना कहो – एक ही बात है। यहाँ पर के कार्य की बात नहीं है; क्योंकि पर का कार्य तो कोई कर ही नहीं सकता तथा विकार में हर्ष-शोक का वेदन करना कर्मफल चेतना है।

देखो, समस्त शुभाशुभ भावों को करनेरूप एवं भोगने रूप परिणाम संसार के बीज हैं, चौरासी लाख योनियों में भटकने के बीज हैं; क्योंकि आठों ही कर्म अज्ञानचेतना के बीज हैं।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को भी तो राग होता है न?

उत्तर :– हाँ, जबतक सम्पूर्ण स्वरूप स्थिरता नहीं होती, तबतक राग होता है; परन्तु इस राग में उनका कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भाव नहीं है। उन्हें राग जहर जैसा ही लगता है। फिर भी वह अस्थिरता जनित राग दुःख रूप ही है, बंध का ही कारण है – ऐसा वे मानते हैं।

राग से भेद करके भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा 'मैं तो शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु हूँ' अन्तर में ऐसी प्रतीति व अनुभव करने का नाम ज्ञान चेतना है और वह धर्म है। आत्मा शुद्ध एक चैतन्य सत्तापने अन्दर में नित्य विराजमान है उसमें सन्मुखता करके उसी का अनुभव करना भगवती ज्ञानचेतना है तथा वही भवछेद का उपाय है।

प्रश्न :– शुभाशुभभाव यदि करने लायक नहीं तो छोड़ने लायक भी तो नहीं हैं ? क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि के भी तो होते हैं।

उत्तर :– अरे भाई! सर्व शुभाशुभ भाव छोड़ने लायक ही हैं। १०८ वें कलश की टीका में पं॰ राजमल्लजी ने इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया है – "यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप या आचरण रूप जो चारित्र है, वह यदि करने योग्य नहीं है तो छोड़ने योग्य भी तो नहीं है ?

उत्तर इसप्रकार है कि – वर्जनयोग्य है। कारण कि व्यवहार चारित्र होते हुए भी दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसकारण विषय-कषाय की भाँति ही क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।"

भाई! सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय की भाँति ही शुभाचरण को छोड़ने योग्य ही मानते हैं। समकिती को उसमें किंचित् भी आदरभाव नहीं होता। स्वरूप के श्रद्धान का उदय होते ही समकिती समस्त राग को हेय ही मानता है। उसे राग की भावना नहीं है, वह तो उसे अपनी कमजोरी ही मानता ह ।

ज्ञानी को भी राग का विकल्प आता है, परन्तु उस ऐसा निरन्तर भेदज्ञान वर्तता है कि 'मैं इस से भिन्न हूँ।' भ दज्ञान क ऐसे ही उग्र अभ्यास से स्वरूप सन्मुखता होती है। इसलिए हे भव्य ! सकल कर्म की और सकल कर्मफल की भावना का त्याग कर स्वभावभूत भगवती ज्ञान चेतना को ही सदा भाओ !

अहा––! तू अन्दर में अकेला शुद्ध चैतन्यघन ज्ञानानन्द लक्ष्मी से भरपूर भगवान है। तुझ में एक प्रभुत्व शक्ति है अतः तू ही प्रभु है। पामरपने रहना तेरा स्वभाव ही नहीं है।

जिनको अन्तरंग में सिद्धपद का प्राप्त करने की भावना हई उनका आचार्य फरमाते हैं – हे मोक्षार्थी ! तू सकल कर्म के सन्यास की भावना को तथा सकल कर्मफल के सन्यास की भावना को नचाकर अपनी स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना को ही सदा नचाओ। ज्ञानचेतना रूप होकर ही सतत परिणमन करो। भगवान आत्मा का स्व-संवेदन करके ज्ञान व आनन्द के

वेदन में ठहरो!

भाई! शुभाशुभ भाव करने/भोगने के अभिप्राय का त्याग करके अपनी सहज शुद्ध एक चैतन्यमात्र वस्तु में एकाग्र होकर उसी में रमना ज्ञानचेतना है। इस भगवतीज्ञान चेतना को ही सदैव नचाओ; क्योंकि यही एकमात्र मोक्ष का उपाय है। भगवती ज्ञानचेतना कहो या भगवतीप्रज्ञा कहो – दोनों एक ही बात है।

इसमें पहले, सकल कर्मोंके संन्यास की भावना को नचाते हैं –

(वहाँ प्रथम, काव्य कहते हैं)

(आर्या)

तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति –

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे।।२२५।।

श्लोकार्थ :– (**त्रिकालविषयं**) त्रिकालके (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागतकालसंबंधी) (**सर्वं कर्म**) समस्त कर्मको (**कृत–कारित–अनुमननैः**) कृत-कारित-अनुमोदना से और (**मनः–वचन–कायैः**) मन-वचन-काय से (**परिहृत्य**) त्याग करके (**परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे**) मैं परम नैष्कर्म्यका (उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूँ। (इसप्रकार, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।)।।२२५।।

कलश २२५ पर प्रवचन

धर्मी चारित्रवन्त पुरुष कहते हैं कि मैं तीनकाल के समस्त पुण्य-पाप रूप विकारी कर्मों का मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता हूँ। मैं इन कर्मों का कर्ता नहीं, कारयिता नहीं और अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ। – इसप्रकार सर्व कर्मों का मैं त्याग करता हूँ। पर में कार्य हो इसकी तो यहाँ बात ही नहीं है, घड़ा कुम्हार ने बनाया – यह बात तो जैनदर्शन के अनुसार संभव ही नहीं है।

बहुत से जैनमतानुयायी भी ऐसा मानते ह कि – कुम्हार (जीव) घड़ा रूप कार्य (अजीव का कार्य) कर सकता है; परन्तु बापू! यह मान्यता मिथ्या है। गाथा ३७२ में आ ही गया है। आचार्य कहते हैं कि – 'घड़ा कुम्हार से बनता है' ऐसा हमें दिखाई ही नहीं देता। मिट्टी कुम्हार के स्वभाव को छूती ही नहीं है, वह तो अपने स्वभाव से ही घड़ारूप उत्पन्न होती है। यदि कुम्हार से घड़ा बनता हो तो घड़ा कुम्हार के आकार रूप होना चाहिए, परन्तु ऐसा कदापि बनता नहीं है। मिट्टी ही वस्तुतः घड़े की उत्पादक है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी जीव त्रिकाल के समस्त कर्मों को अर्थात् शुभाशुभ भावों को भी नहीं करता। न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न मन-वचन-काय से अनुमोदना करता है। वह तो ऐसा विचार करता है कि 'मैं तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध एक चिदानन्द भगवान हूँ' तथा वह उसी में ही स्थिर होता है, बस इसी का नाम चारित्र है। महाव्रतादि का शुभराग चारित्र नहीं है। उसका तो वह त्याग करता है। इसप्रकार सकल कर्म के सन्यासपूर्वक सम्यग्दृष्टि को जो स्वरूप में स्थिरता-रमणता होती है, वह चारित्र है।

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु सदैव निष्कर्मशक्ति के स्वभाव रूप है। उसे आत्मा के सन्मुख होकर परिणमन करते हुए जो स्व-संवेदन ज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है, 'मैं यही हूँ' ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन और उसी का उग्र आश्रय करने से जो निष्कर्म-वीतराग दशा होती है, वह चारित्र है।

इसप्रकार ज्ञानी सर्वकर्मों का त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है। ◆

(अब टीकामें प्रथम, प्रतिक्रमण-कल्प अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं :–)

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्य, समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६।

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि :–)

जो मैंने (अतीतकालमें कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे, वचनसे, तथा कायसे, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवालेका अनुमोदन करना वह संसारका बीज है यह जानकर उस दुष्कृतके प्रति हेयबद्धि आई तब जीवने उसके प्रति ममत्व छोड़ा, यही उसका मिथ्या करना है) ।१।

जो मैंने (अतीत कालमें कर्म) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।२। जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।३। जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।५। जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वचनसे, वह मेरादष्कृत मिथ्या हो ।६। जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्य समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ७। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ८। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १०। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ११। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं,मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १२। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्य समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १४।यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं,

---

हुएका अनुमोदन किया, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।७।

जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।८। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे और कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।६। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।१०। जो मैंने (अतीत कालमें) किया और कराया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।११। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।१२। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।१३। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।१४। जो मैंने (पूर्वमें) किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।15। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन

समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १५। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १७। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १८। यदहमचीकर, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १९। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च, तन्मिथ्या में दुष्कृतमिति २०। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्य समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २१। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २३। यदहमकार्षं,

---

किया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।१६। जा मैंने (पूर्वमें) किया और कराया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।१७। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनस तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।१८। जो मैंने (पूर्वमें) कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।१६।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया और कराया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२०। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२१। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२२। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया वचनसे,वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२३। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२४। जो मैंने (पूर्वमें) कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२५। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया कायासे, वह

यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २४। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, कायेन च, तन्मिथ्या म दुष्कृतमिति २६। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २७। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, काय न च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २८। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च, कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २९। यदहमचीकरमनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३०। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३१। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३२। यदहमचीकर मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या में दुष्कृतमिति ३३। यत्कुर्वंतमप्यन्य समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च,

---

मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२६। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दु॰ कृत मिथ्या हो।२७। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२८। जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे, वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२९। जो मैंने (पूर्व में) कराया मनसे, वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३०। जो मैंने अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३१। जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे तथा वचनसे वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३२। जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३३। जो मैंने पूर्वमें) अन्य किया मनसे तथा वचनसे,वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३४। जो मैंने (पूर्वमें) किया मनसे तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।३५। जो मैंने (पूर्वमें) कराया

तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३४। यदहमकार्षं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३५। यदहमचीकरं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३६। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३७। यदहमकार्षं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३८। यदहमचीकरं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३९। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिष वाचा च कायेन च, दुष्कृतमिति ४०। यदहमकार्षं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४१। यदहमचीकरं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४२। यत्कुर्वंतमप्यन्य समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या म द ष्कृतमिति ४३। यदहमकार्षं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४४। यदहमचीकरं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं

मनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।३६। जो मैंन (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।३७। जो मैंने (पूर्वमें) किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।३८। जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे, तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।३६। जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४०। जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४१। जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४२। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४३। जो मैंने (पूर्वमें) किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत करते हुएका अनुमोदन मिथ्या हो ।४४। जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४५। जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचन से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४६। जो मैंने (पूर्वमें) किया कायासे, वह

वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४६। यदहमकार्षं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७। यदहमचीकरं कायेन च, तन्मिथ्या मेदुष्कृतमिति ४८। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९।

मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४७। जो मैंने (पूर्व में) कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४८। जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४६।

इसप्रकार प्रतिक्रमणकल्प (अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ।

(इन ४६ भंगोंके भीतर, पहले भंगमें कृत, कारित, अनुमोदना – ये तीन लिये हैं और उनपर मन, वचन, काय – ये तीन लगाये हैं। इसप्रकार बने हुए इस एक भंगको '३३' की समस्यासे–संज्ञासे–पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो–दो लगाए हैं। इसप्रकार बने हुए इन तीनों भंगोंको ÷ '३२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तक के भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक–एक लगाया है। इन तीनों भंगोंको '३१' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनोंलगाए हैं। इन तीनों भंगोंको '२३' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है। ११ से १६ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो–दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो–दो लगाए हैं। इन नौ भंगोंको '२२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंस दो–दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक-एक लगाया है। इन नौ भंगोंको '२१' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है। २६ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं।

इन तीनों भंगोंको '१३' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगोंको '१२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४६ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक-एक लगाया है। इन नौ भंगोंको '११' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। इसप्रकार सब मिलाकर ४६ भंग हुये।)

अब टीका में प्रथम प्रतिक्रमण कल्प अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं –

पतिक्रमण करनेवाला कहता है कि 'मैंने जो पूर्व में शुभाशुभ कर्म मन-वचन-काय से किए हों, करायें हो, करते हुओं की अनुमोदना की हो; वे मेरे समस्त दुष्कृत मिथ्या हों।'

पूर्व में मैंने जो शुभभाव किए हों, वे मेरे कार्य नहीं हैं, वे सब दुष्कृत हैं, मैं उन्हें त्यागता हूँ; क्योंकि – वे सब संसार के बीज हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी की उन दुष्कृतों के प्रति हेयबुद्धि हुई, अतः वह उनके प्रति हुए ममत्व को छोड़ देता है।

इसप्रकार सभी ४६ भंगों को लगाकर अच्छी तरह समझना।।

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं –

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२६।।

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

श्लोकार्थ :– (**यद् अहम् मोहात् अकार्षम्**) मैंने जो मोह से अथवा (अज्ञान से भूतकाल में) कर्म किये हैं, (**तत् समस्तम् अपि कर्म प्रतिक्रम्य**) उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके (**निष्कर्मणि चैतन्य–आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते**) मैं निष्कर्म अर्थात् समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (निज से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव

करता है)।।२२६।।

भावार्थ :– भूतकालमें किये गये कर्मको ४६ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है।

'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इसप्रकार है :– जैसे, किसी ने पहल धन कमाकर घरमें रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगनेका अभिप्राय नहीं रहा; उससमय, भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाने के समान ही है; इसीप्रकार, जीव ने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँघा था वह नहीं बाँधने के समान मिथ्या ही है।।२२६।।

इसप्रकार प्रतिक्रमणकल्प (अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ।

कलश २२६ पर प्रवचन

देखो, यह चारित्र का अधिकार है। चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना कभी होता नहीं है। समकिती के भी जहाँ तक पुण्य-पाप का परिणमन है, वहाँ तक चारित्र नहीं है। सम्यग्दर्शन होते ही राग के कर्त्ता-भोक्तापने की बुद्धि तो छूट गई है; परन्तु अभी अस्थिरता है। यहाँ कहते हैं कि – यह अस्थिरता का राग मैं छोड़ता हूँ और मैं स्वयं से ही निजानन्दस्वरूप में लीन होता हूँ। इसी का नाम प्रतिक्रमण है।

पहले अज्ञानवश पर में अटक कर जो शुभाशुभ भाव किए, उन सभी का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्तता हूँ। भाई ! शुभभाव भी दोष है, दुष्कृत है। इसकारण ज्ञानी जीव उसका प्रतिक्रमण करता है।

बापू ! आप लोग जो स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर उपाश्रयों में बैठकर प्रतिक्रमण करते थे, वह प्रतिक्रमण था ही नहीं। वह तो राग की क्रिया थी।

देखो, धर्मात्मा जो हिंसादि अशुभभावों का त्यागकर दया-दान आदि के शुभ भावों में वर्तते हैं, वह व्यवहार प्रतिक्रमण है। परन्तु वह व्यवहार प्रतिक्रमण दोष है, दुष्कृत है। 'मैं उन सर्व दोषों को छोड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं से वर्तता हूँ' ज्ञानी भूतकाल में हुए सर्व कर्मों का इसप्रकार प्रतिक्रमण करते हैं।

अहा ! जीव की एक समय की अवस्था में हुए शुभाशुभभाव जीव के परिणाम हैं, परन्तु चैतन्य के स्वभाव का उसमें अभाव है, इसकारण वे विभाव परिणाम हैं। वे स्वरूप में तद्रूप नहीं हैं। इसलिए ज्ञानी उन सर्व विभावों को छोड़कर निष्कर्म शुद्ध चैतन्यस्वरूप में वर्तते हैं।

देखो ! प्रत्येक पदार्थ अपने पर्यायरूप कार्य को करता है, परन्तु दूसरे द्रव्य के परिणाम का कर्ता वह नहीं होता। हम तुम जो यह भाषा बोलते हैं न ? वह शब्दवर्गणा का कार्य है। शब्दवर्गणा के परमाणु भाषारूप से उत्पन्न हो रहे हैं, हमारा-तुम्हारा आत्मा उस भाषा का कर्ता नहीं है। लोगों को ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास नहीं है, इसकारण उन्हें यह बात अटपटी लगती है, उनके गले नहीं उतरती। परन्तु भाई ! यह तो परमार्थ सत्य है। अरे बापू ! एक परमाणु की अवस्था को दूसरा परमाणु नहीं कर सकता तो फिर भाषा का कार्य जीव करे – यह कैसे संभव है ? संभव ही नहीं है।

अहा ! ऐसा अभ्यास जिसको वर्तता है, वे धर्मात्मापुरुष कहते हैं कि 'मैं तो शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा प्रभु आत्मा हूँ तथा ये जो दया-दान-व्रत आदि के विकल्प उठते हैं, वे अनात्मा हैं। वे मेरे स्वरूपभूत नहीं हैं तथा वे मुझे पुसाते भी नहीं हैं, क्योंकि वे दुःखरूप हैं, दुःखकारी हैं। इसलिए मैं उन समस्त कर्मों का त्याग करके निज आत्मस्वरूप में आत्मा से ही निरन्तर वर्तता हूँ। अहाहा...........! आत्मा से ही वर्तता हूँ।'

तात्पर्य यह है कि पर से या राग से आत्मा के स्वरूप में लीन नहीं होता, किन्तु अपने स्वरूप सन्मुख हुए अपने उपयोग से ही स्वरूप में वर्तता है। प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के छठवें बोल में कहा

है कि 'लिंग द्वारा नहीं, किन्तु स्वभाव से जिसका ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है।' इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्षज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। अहा ! यहाँ कहते हैं कि 'मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से ही अन्दर आत्मा में स्थिर वर्तता हूँ।' यह है चारित्र दशा, मुनिदशा! अहाहा--! चारित्र के ऐसे ही स्वरूप में मुनिराज अपने अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के अनुभव में स्थिर रहते हैं तथा राग का अनुभव छोड़ देते हैं। यही चारित्र व मोक्षमार्ग है।

कलश २२६ के भावार्थ पर प्रवचन

अहा--! निरन्तर निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है। अब प्रतिक्रमण की विधि बताते हुए कहते हैं कि – जीव ने जों पूर्व में कर्म बाँधे थे, वे 'मैं नहीं' और उनका जो फल आता है वह फल भी 'मैं नहीं' – ऐसा जानकर उसका ममत्व छोड़ देना तथा स्वरूप में लीन रहना। इससे जो कर्म बाँधे थे, वे नहीं बाँधे समान (मिथ्या) ही हो गये। बस; यही प्रतिक्रमण की विधि है।

इसीप्रकार आलोचना में ऐसा निर्धार होता है कि 'मैं वर्तमान में कर्म करता नहीं हूँ' कराता नहीं हूँ, अन्य करते हुये की अनुमोदना भी नहीं करता, न मन से, न वचन से और न काय से। मैं तो निरन्तर निज चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। बस, यही वास्तविक आलोचना है। ◆

(अब टीकामें आलोचनाकल्प कहते हैं :–)

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्य समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति २। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति ३। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति ४। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति ५। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति ६। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति ७। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ८। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ९। न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।१।

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, तथा वचनसे ।२। मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, तथा कायसे ।३। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायसे ।४। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे ।५। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे ।६। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायसे ।७। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।८। न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा काया से ।९। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का

कायेन चेति १०। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा चेति ११। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति १२। न कारयामि,न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति १३। न करोमि, नकारयामि, मनसा च कायेन चेति १४। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि,मनसा च कायेन चेति १५। न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि,मनसा च कायेन चेति १६। न करोमि, न कारयामि, वाचा च कायेन चेति१७। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति १८। नकारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति १९। न करोमि, न कारयामि, मनसा चेति २०। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि,मनसा चेति २१। न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति

अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे।10।

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा वचनसे।11। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे।12। न तो मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे।13। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा वचनसे।14। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायसे।15। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायसे।16। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचनसे तथा कायसे।17। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायसे।18। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायसे।19।

न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे।20। न तो मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे।21। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से।22। न मैं करता हूँ, न

२२। न करोमि, न कारयामि, वाचा चेति २३। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति २४। न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्य समनुजानामि, वाचा चेति २५। न करोमि, न कारयामि, कायेन चेति २६। न करोमि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति २७। न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति २८। न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९। न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३०। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१। न करोमि मनसा च वा चेति ३२। न कारयामि मनसा च वाचा चेति ३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति ३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५। न कारयामि, मनसा च कायेन चेति ३६। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३७। न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८। न कारयामि,

---

कराता हूँ, वचनसे ।२३। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन कराता हूँ, वचनसे ।२४। न में कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से ।२५। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, कायासे ।२६। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, कायासे ।२७। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, कायासे ।२८।

न मैं करता हूँ मनसे, वचनसे, तथा कायसे ।२९। न मैं कराता हूँ मनसे, वचनसे, तथा कायसे ।३०। मैं अन्य करते ह ए का अनुमोदन नहीं करता मनसे, वचनसे तथा कायसे ।३१।

न तो मैं करता हूँ मनसे तथा वचनसे ।३२। न मैं कराता हूँ मनसे तथा वचनसे ।३३। न मैं अन्य करते ह ए का अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा वचनसे ।३४।। न मैं करता हूँ मनसे तथा कायासे ।३५। न मैं कराता हूँ मनसे तथा कायासे ।३६। न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा कायासे ।३७। न मैं करता हूँ वचनसे तथा कायासे ।३८। न मैं

वाचा च कायेन चेति ३९। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४०। न करोमि मनसा चेति ४१। न कारयामि मनसा चेति ४२। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ४३। न करोमि वाचा चेति ४४। न कारयामि वाचा चेति ४५। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६। न करोमि कायेन चेति ४७। न कारयामि कायेन चेति ४८। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ४९।

कराता हूँ वचनसे तथा कायासे ।३९ । न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचनसे तथा कायासे ।४० ।

न मैं करता हूँ मनसे ।४१ । न मैं कराता हूँ मनसे ।४२। न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ ।४३ । न मैं करता हूँ वचनसे ।४४ । न मैं कराता हूँ वचनसे ।४५ । न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ ।४६ । न मैं करता हूँ काया से ।४७ । न मैं कराता हूँ कायासे ।४८ । न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हू. कायासे ।४९ ।

(इसप्रकार प्रतिक्रमण के समान आलोचना में भी ४९ भंग कहे ।)

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्मसकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः।

श्लोकार्थ :– (निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला कहता है कि–) (**मोहं विलासविजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म**) मोह के विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (उदयमें आता हुआ) कर्म (**सकलम् आलोच्य**) उस सबकी आलोचना करके (–उन सर्व कर्मोंकी आलोचना करके–) (**निष्कर्मणि चैतन्य–आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते**) मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ :– वर्तमान काल में कर्मका उदय आता है उसके विषयमें ज्ञानी यह विचार करता है कि – पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मको देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।।२२७।।

इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

कलश २२७ पर प्रवचन

देखा, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषों को जो दया-दान-भक्ति आदि के विकल्प आते हैं, वे उनके कर्त्ता नहीं हैं, ज्ञाता-दष्टा ही हैं। अहा! जो स्वयं को राग का कर्त्ता मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। भाई! धर्मात्मा तो राग को मोह का विलास जानते हैं। शुभाशुभ भाव ज्ञानी की दृष्टि में मोह के ही विलास हैं। ये सब पुद्गल के विलास है, जीव के विलास नहीं हैं। धर्मी जीव इन्हें चैतन्य का विलास नहीं मानते। भक्ति के काल में भी उन्हें जो भगवान के प्रति राग होता है, उसे वे हेय जानते हैं। उन्हें जैसा अपने अन्दर विराजे ज्ञायकभाव का आदर है वैसा आदर शुभ के प्रति नहीं है। यद्यपि भक्ति आदि का शुभराग आता है; परन्तु उसे वे हेय जानते हैं।

यहाँ तो इससे भी विशेष यह कहते हैं कि – चारित्रवान पुरुषों को राग का अभाव ही वर्तता है। उन्हें राग होता ही नहीं है।

देखो, चौथे गुणस्थान में समकिती को अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की मात्र झलक आती है, जबकि चारित्रवन्त मुनिराज के तो विशेष स्वरूप रमणता होने से अतीन्द्रिय आनन्द का पूर आता है, उन्हें प्रचुर आनन्द होता है।

अरे, अज्ञानी जीव ने अनादिकाल से राग रूप आचरण कर कर के अपने को धर्मात्मा माना है; परन्तु यह यथार्थ मार्ग नहीं है। जो राग से धर्म सम्बन्धी लाभ मानता है वह अपने चैतन्य स्वरूप का घात करता है।

धर्मीपुरुष कहते हैं कि उदय में आते कर्म मेरी वस्तु नहीं है। मैं तो

निरन्तर स्व-स्वरूप में ही वर्तता हूँ।

प्रश्न :— शास्त्रों में भगवान की भक्ति, स्तुति, दर्शन, पूजन आदि तथा व्रत, तप आदि आचरण करने का विधान भी तो है न ?

उत्तर :— हाँ, है; परन्तु ये सब व्यवहार के कथन हैं। धर्मी पुरुषों के ऐसे शुभ भाव यथा अवसर/यथासंभव आते हैं। शास्त्रों में भी यह विधान है। धर्म परिणति के साथ व्यवहार में सहचरपने निमित्त कैसा होता है — यह ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से कथन आता है। परन्तु यह शुभ भाव सम्यग्दर्शन का या धर्म का कारण नहीं है। बाह्यलक्ष्य से यदि सम्यग्दर्शन होता हो तो यह जीव अनन्तबार समोशरण में जाकर आया। फिर भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, केवली के पाद मूल में बैठने पर भी कोरा का कोरा रह गया, क्योंकि वहाँ जाकर भी उसने राग की क्रिया में धर्म मानकर मिथ्यात्व का ही सेवन किया। वास्तव में राग से भेदज्ञान करके अपने शुद्धचैतन्य स्वरूप में रमना/ठहरना ही सम्यग्दर्शन और धर्म है। और यही वास्तविक आलोचना है।

आजकल तो सर्व धर्म धन में ही सिमट गया है। कोई पाँच-दस करोड़ का आसामी हो और वर्ष में पाँच-दस लाख का दान देता रहे तो लोक उसे ही धर्मधुरन्धर, श्रावकशिरोमणि की उपाधियों से विभूषित करते हैं और उनकी दृष्टि में वही सबसे बड़ा धर्मात्मा दिखता है। भले वह तत्वज्ञान में शून्य ही क्यों न हो ?

अरे भाई! दान देने की क्रिया के समय यदि कदाचित् राग की मन्दता हो तो उसे शुभ भाव से पुण्य बन्ध होता है, परन्तु यह शुभ भाव तो विकार है, उससे धर्म कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। ऐसा जानकर ज्ञानी धर्मात्मा तो उस शुभ राग को भी छोड़कर, उससे निवृत्त होकर अपने चैतन्य स्वरूप में स्वयं से ही लीन होकर, अन्तर्सन्मुख उपयोग से स्वरूप में लीन होते हैं।

अरे भाई ! तेरा ज्ञायक तत्त्व जुदा है और पुण्य-पाप का भाव अर्थात् आस्रव बंध तत्त्व जुदे हैं, ये आस्रव बंध आदि धर्मतत्त्व नहीं हैं, संवर निर्जरा

तत्त्व नहीं है। – ऐसा जानकर प्रचुर आनन्द के स्वामी चारित्रवन्त भावलिंगी सन्त ऐसा अनुभव करते हैं कि – 'मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्तता हूँ,' यह राग तो मोह का विलास है, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, यह आलोचना है।

कलश २२७ के भावार्थ पर प्रवचन

वर्तमान काल में जो कर्म का उदय आता है, उसमें ज्ञानी ऐसा विचारता है कि कर्मोदयजन्य जो दया-दान आदि के परिणाम होते हैं, वे पूर्व में बाँधे गये कर्मोदय के कार्य हैं; आत्मा का कार्य नहीं है। ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो जो राग का परिणमन हो रहा है, उसका कर्त्ता तो वह स्वयं है परन्तु वह उसे करने लायक नहीं मानता, राग की उसे रुचि भी नहीं है, किन्तु परिणमन की अपेक्षा वह उसका कर्त्ता है। जिसे राग की रुचि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

अरे! अज्ञानी शुभराग में धर्म मानकर राजी हो जाता है, प्रसन्न हो जाता है, संतुष्ट हो जाता है। वह मान लेता है कि 'मैने धर्म किया।' परन्तु भाई! यह धर्म नहीं है। धर्म में तो पुण्य-पाप का भाव उत्पन्न ही नहीं होता। जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आये उसे ही धर्म कहते हैं, यही चारित्र है। यद्यपि इसकाल में विषयों की बहुलता है, अधिकता है। परमात्मप्रकाश की गाथा १३६ में आता है कि – इस पंचमकाल में देवों का आगमन तो होता नहीं है, कोई अतिशय देखने में आता नहीं है, केवलज्ञान होता नहीं है और हलधर, चक्रधर आदि का अभाव है। ऐसे दुःखम काल में कोई भव्य जीव विषयों से हटकर राग से हटकर यति श्रावक के धर्म को धारण करता है – यह उस युग का आश्चर्य है, चमत्कार है; अर्थात् वे पुरुष धन्य हैं, वन्द्य हैं। अहा ! स्वरूप के आश्रयरूप धर्म दुर्लभ होते हुए भी बात तो यही यथार्थ है। इसमें समझौता संभव नहीं है।

अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि कहते हैं– धर्मात्मा विचारते हैं कि 'मैं तो शुद्धचैतन्यमूर्ति ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मप्रभु हूँ' मैं भविष्य में शुभ भाव करूँगा ही नहीं। दूसरों से कराऊँगा भी नहीं और

भविष्य में – दूसरों द्वारा करते हुआ की अनुमोदना भी नहीं करुँगा। न मन से, न वचन से एवं न काया से। इस तरह नव कोटि से न करने की बात इस पहले बोल में कही गई है। मैं तो अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होकर ज्ञानदर्शन की परिणतिस्वरूप वर्तता हूँ। ऐसा विचार चिन्तन और ऐसी परिणति ही वस्तुतः प्रत्याख्यान है, यही चारित्र है।

देखो, शुद्ध आत्मा का भान होने के बाद धर्मात्माओं को भी अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आते हैं। उन्हें व्यवहार से ठीक भी कहते है, परन्तु निश्चय से तो वे ठीक नहीं हैं, हेय ही हैं; छोड़ने लायक ही हैं। ऐसी मान्यता सम्यग्दर्शन की भूमिका में साधक को दृढ़पने होती ही है।

अब यहाँ इससे भी आगे की बात कहते हैं –

एक समय की पर्याय में जो शुभाशुभ विकृत भाव हैं उनका लक्ष्य छोड़कर अन्दर देखें तो अनन्त गुण के रस से भरा शुद्ध चैतन्यदल महापवित्र पड़ा है। उसकी दृष्टिपूर्वक उसमें स्थिर होकर रमते हुए शुद्धोपयोग का आचरण प्रगट होता है और अशुद्धोपयोग छूट जाता है। इसका नाम प्रत्याख्यान है। अहा! इसी रीति से शुद्धोपयोग में रमते-रमते अति उग्र आश्रय होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

(अब टीकामें प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं :–)

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति २। न करिष्यामि,न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति ३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति ४। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति ५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति ६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति ७। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ८। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ९। न कारयिष्यामि, न

प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि :–

मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।1। मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे ।२। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे ।३। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे ।४। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे ।५। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे ।६। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे ।७। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचन से तथा कायसे ।८। मैं न तो करूँगा, न

कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १०। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ११। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति १२। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्य समनज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति १३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च कायेन चेति १४। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति १५। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति १६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा च कायेन चेति १७। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति १८। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति १९। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा चेति २०।

अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे।६। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे।१०। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे तथा वचनसे।११। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचनसे १२। मैं न तो न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे।१३। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे तथा कायसे।१४। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे।१५। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे।१६। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचनसे तथा कायसे।१७। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे।१८। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे।१६। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे।२०। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा,

न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति २१। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति २२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा चेति २३। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति २४। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति २५। न करिष्यामि, नकारयिष्यामि, कायेन चेति २६। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति २७। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति २८। न करिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति २९। न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१। न करिष्यामि, मनसा च वाचा चेति ३२। न करिष्यामि, मनसा च वाचा चेति ३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति ३४। न करिष्यामि, मनसा च कायेन चेति ३५। न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि,

---

मनसे ।21। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे ।22। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचनसे ।23। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे ।24। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे ।25। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, कायसे ।26। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे ।27। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे ।28। मैं न तो करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।29। मैं न तो कराऊँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।30। मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे, वचनसे तथा कायसे ।31।

मैं न तो करूँगा मन से तथा वचनसे ।32। मैं न तो कराऊँगा मन से

मनसा च कायन चेति ३७। न करिष्यामि, वाचा च कायेन चेति ३८। न कारयिष्यामि, वाचा च कायेन चेति ३९। न कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति ४०। न करिष्यामि, मनसा चेति ४१। न कारयिष्यामि, मनसा चेति ४२। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि , मनसा चेति ४३। न करिष्यामि, वाचा चेति ४४। न कारयिष्यामि, वाचा चेति ४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति ४६। न करिष्यामि, कायेन चेति ४७। न कारयिष्यामि, कायेन चेति ४८। न कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति ४९।

तथा वचनसे ।33। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोद न करूँगा मन से तथा वचन से ।34। मैं न तो करूँगा मनसे तथा कायसे ।35। मैं न तो कराऊँगा मनसे तथा कायसे ।36। मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे तथा कायसे ।37। मैं न तो करूँगा वचनसे तथा कायसे ।38। मैं न तो कराऊँगा वचनसे तथा कायसे ।39। मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा वचनसे तथा कायसे ।40। मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे तथा मैं न तो करूँगा मनसे ।41। मैं न तो कराऊँगा मनसे ।42। मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे ।43। मैं न तो करूँगा वचनसे ।44। मैं न तो कराऊँगा वचनसे ।45। मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा वचनसे ।46। मैं न तो करूँगा कायसे ।47। मैं न तो कराऊँगा कायसे ।48। मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा कायसे ।49।

(इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान ही प्रत्याख्यानमें भी 49 भंग कहे।)

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

श्लोकार्थ :– (प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि :–) (**भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय**) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (त्याग) करके,(**निरस्त–सम्मोहः निष्कर्मणि चैतन्य–आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते**) जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ :– निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि – समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिए :– व्यवहारचारित्र में तो प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है। यहां निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है इसलिये शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं। उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का – तीनों काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञानश्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है। यह, ज्ञानी का कार्य है। ।२२८ ।।

इसप्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

कलश २२८ पर प्रवचन

आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान होने के पश्चात् प्रत्याख्यान करने के लिए तीव्र पुरुषार्थ की जरुरत है। शुद्धोपयोग में उग्रतापूर्वक रमण करने का नाम प्रत्याख्यान है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उठना तो अप्रत्याख्यान है, अशुद्धता है। इससे भी भेदज्ञान करके शुद्धचैतन्यमात्र भाव में उपयोग का रमना प्रत्याख्यान है।

४७ शक्तियों में आत्मा की एक अभाव नाम की शक्ति है जो राग और कर्म के अभाव स्वरूप है, जिसके कारण आत्मा अशुद्ध नहीं होता, कर्मरूप नहीं होता। तथापि निमित्त के वश होने पर आत्मा की अवस्था विकारी होती है। समकिती ज्ञाता रहकर उसे परज्ञेयरूप से मात्र जानता है। वह उस विकृत दशा को अपना नहीं मानता।

यहाँ इससे भी विशेष बात यह है कि – मैं भविष्य में समस्त कर्म न स्वयं करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा और न करते हुए की अनुमोदना ही करूँगा। इसतरह मन-वचन-काय से सर्वकर्म का त्याग करके धर्मात्मा कर्म से मुक्त होकर स्वसन्मुखता द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमन में स्थिर होता है। स्वरूप में ही उपयोग को रमाता है। इसका नाम प्रत्याख्यान है, चारित्र है।

अरे! अज्ञानी अनादि से सन्मार्ग भटका हुआ है। पंचमहाव्रत एवं शरीर की नग्नदशा के परिणाम को चारित्र मानकर शुभराग के सेवन में – आचरण में अटक गया है। परन्तु जिसप्रकार अशुभ राग अशुचि है, उसीप्रकार शुभराग भी अशुचि ही है; जिसप्रकार अशुभभाव दुःखरूप है, उसीप्रकार शुभभाव भी आकुलता रूप ही है। एकमात्र शुद्धोपयोग रूप परिणाम ही पवित्र और निराकुल है। आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। उपयोग को वहीं स्थिर करके उसी में रमना वास्तविक प्रत्याख्यान एवं चारित्र है।

जिसे राग में रुचि है उसको तो सम्यग्दर्शन ही नहीं है, फिर प्रत्याख्यान तो कहाँ से होगा ? हो ही नहीं सकता।

अहाहा! भगवान आत्मा तो स्वरूप से ही निष्कर्म-निराग-निर्दोष स्वरूप है। ज्ञानी ऐसे आत्मा में आत्मा से ही लीन रहकर निरन्तर उस आत्मा में ही वर्तता है। उसे इस तरह निश्चय प्रत्याख्यान में रहते हुए व्यवहार के दया-दान-व्रत आदि की कोई अपेक्षा नहीं है।

धर्मात्माओं को दया-दान, व्रतादि शुभभाव होते ही न हों – ऐसी बात नहीं है; होते हैं; किन्तु उन सबके यथास्थान होते हुए भी शुद्धोपयोगरूप

निर्मल परिणति में इनका कोई उपयोग नहीं है, बल्कि निश्चय प्रत्याख्यान होने के लिए इन शुभभावों का न होना ही अभीष्ट है; क्योंकि ये शुभभाव वीतरागरूप शुद्धोपयोग में बाधक ही होते हैं।

यह बात तो १७–१८वीं गाथा में भी आ गई है कि – अज्ञानी के अर्थात् आबाल-गोपाल के क्षयोपशम ज्ञान की पर्याय में भी भगवान आत्मा जानने में आता है; परन्तु उसकी दृष्टि या रुचि ही वहाँ नहीं होती। उसकी रुचि तो दया-दान, व्रत आदि के राग में पड़ी रहती है। इस कारण वह राग को ही निजस्वरूप मानकर अज्ञानी होता हुआ राग के आचरण में ही सन्तुष्ट रहता है। जबकि ज्ञानी को उस रूप आचरण की किंचित् भी कीमत नहीं है।

अरे! देखो तो सही ! आठ-आठ वर्ष की बालिकायें तत्त्व को समझे बिना बाह्य क्रियाकांड में अटककर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि की कोरी क्रियायें करती हैं और इन्हीं क्रियाओं में धर्म मानकर संतुष्ट रहती हैं। परंतु धर्म का यह स्वरूप नहीं है। सामायिक तो उसे कहते हैं जिसमें समता एवं वीतरागता का लाभ हो। व्यवहार के क्रियाकाण्ड तो जीवों ने अनन्तबार किये; पर उनसे क्या लाभ ? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि सर्व क्रियाकाण्ड के राग को छोड़कर शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप में स्थिर होना ही वास्तविक प्रत्याख्यान है और यही यथार्थ चारित्र है। अहा! एक समय का प्रत्याख्यान अनन्त-अनन्त भवों को छेद डालता है। यह ऐसी अलौकिक वस्तु है।

कलश २२८ के भावार्थ पर प्रवचन

अहा—! धर्मी कहते हैं कि 'मैं तो सदा शुद्धोपयोग में रहता हूँ।' इसप्रकार ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष आगामी समस्त कर्म का त्याग करके अपने शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप में वर्तते हैं, एक शुद्धोपयोग रूप से रहत हैं।

तात्पर्य यह है कि – व्यवहारचारित्र रूप प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है, उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है; परन्तु यहाँ निश्चय चारित्र का प्रधानपने कथन होने से शुद्धोपयोग से विपरीत सभी कर्म आत्मा

के दोष स्वरूप हैं। उन सर्व कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का – तीनों काल के कर्मों का – प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से जुद अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान से तथा उसी में स्थिर होने के विधान से निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर, श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यही ज्ञानी का कार्य है।

देखो! यहाँ कहते हैं कि व्यवहार चारित्र में प्रतिज्ञा में जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण वगैरह होता है जोकि शुभभावरूप है और पुण्यबन्ध का कारण है, और निश्चय चारित्र में तो शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व धर्म आत्मा के लिए दोष स्वरूप हैं।

कहते हैं कि इन सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान–श्रद्धान के द्वारा तथा इसी में स्थिर होने के विधान से निष्प्रमाद दशा को प्राप्तकर, श्रेणी का आरोहण करके ज्ञानी केवलज्ञान प्राप्त करने के सन्मुख होता है। बस, यही एकमात्र ज्ञानी का कार्य है।

इसप्रकार प्रत्याख्यान का विधान पूरा हुआ। ◆

अब समस्त कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन समाप्त करते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे।।२२९।।

श्लोकार्थ :– (शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला कहता है कि – (**इति एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**त्रैकालिकं समस्तम् कर्म**) तीनों काल के समस्त कर्मों को (**अपास्य**) दूर करके – छोड़कर, (शुद्धनय – अवलंबी) शुद्धनयावलंबी (अर्थात् शुद्धनय का अवलंबन करनेवाला) और (**विलीन–मोहः**) विलीन मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं (**अथ**) अब (**विकारैः रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम्**) (सर्व) विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ।।२२६।।

कलश २२६ पर प्रवचन

अहाहा ! सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्रदशा प्रगट करने की, स्वरूप में रमण करने की जिसको इच्छा है, वह ऐसा जानता है, अनुभव करता है कि भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल के पुण्य-पाप के भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उनसे पीछे हटता हूँ, उनका परित्याग करता हूँ। इस तरह तीनों कालों के समस्त शुभाशुभ दोषों को दूर करके शुद्धनयावलम्बी और विलीन मोही मैं सर्व विरोधों से रहित शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ। मैं तो शुद्ध एक सच्चिदानन्दमय आत्मा हूँ, उसी में रमता हूँ, स्थिर होता हूँ, मुझे इन शुभाशुभ भावों से क्या प्रयोजन ?

ये शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय आदि तो सब जड़ पदार्थ हैं, परपदार्थ हैं। इनका तो मैने कभी स्पर्श ही नहीं किया। 'मैं इनसे निर्वृत्त होता हूँ' यह भी नास्ति का कथन है। अस्ति से तो 'मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को ही अवलम्बता हूँ, प्राप्त होता हूँ।'

अहाहा—! मैं तो त्रिकाली अकषायी, परमशान्त वीतरागरस से, चैतन्यरस से भरा भगवान हूँ, उसी का अवलम्बन करता हूँ। बस, यही धर्मी पुरुष का कार्य है। धर्मी जीव तो ऐसे चिन्तन से, आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ से अल्पकाल में ही कार्य परमात्मा बन जाता है।

अरे! पंचमहाव्रत तो अभव्य भी पाल लेता है, ये तो शुभभाव के विकल्प हैं, आस्रव भाव हैं। ये कहीं चारित्र नहीं हैं। निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना में इन सब – तीनों कालों के शुभ राग का भी अवलम्बन छोड़कर अपने चैतन्य चमत्कार स्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेने को चारित्र कहा है। यहाँ तीन बातें कही हैं –

१. मैं तीनकाल के समस्त शुभाशुभ कर्मों को छोड़ता हूँ। उनसे मैं स्वयं को भिन्न अनुभवता हूँ।

२. मैं अन्तर में शुद्ध चिदानन्दकन्द प्रभु हूँ, शुद्धनय का अवलम्बन लेकर उसे ही प्राप्त कर उसी का आश्रय लेता हूँ।

३. मेरा चिन्मात्र आत्मा ही, चित्स्वभावी आत्मा ही मेरा आलम्बन है,

राग मेरा आलम्बन नहीं; क्योंकि राग मेरा स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं। इसप्रकार जिसमें एक चिन्मात्र आत्मा का ही आलम्बन है वह चारित्र है।

अरे! शुक्ललेश्या के परिणाम से यह जीव नव ग्रैवेयक तक गया; किन्तु मन्दकषाय से धर्मलाभ होने की मान्यता न छूटने के कारण इस जीव का संसार परिभ्रमण नहीं मिटा।

छहढाला में भी यह बात आई है। कवि कहते हैं –

मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि भाई ! तू अब इस विपरीत मान्यता को छोड़ दे। जिन्हें पंचेन्द्रियों के विषयों के प्रति राग है, वे तो निःसन्देह कड़वे जहर का प्याला ही पी रहे हैं; किन्तु जिन्हें दया-दान-व्रत आदि विकल्पों के प्रति राग है, ये भी मीठे जहर का ही प्याला है, उसमें अमृत का स्वाद नहीं है। अमृत का सागर तो आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा ही है।

अब समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को नचाते हैं :–

(उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय अर्थ का काव्य कहते हैं :–)

अथ सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति –

(आर्या)

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्।।२३०।।

श्लोकार्थः– (समस्त कर्मफल की सन्यास भावना का करनेवाला कहता है कि–) (**कर्म–विष–तरु–फलानि**) कर्मरूपी विष वृक्ष के फल (**मम् भुक्तिम् अन्तरेण एव**) मेरे द्वारा भोगे बिना ही, (**विगलन्तु**) खिर जायें; (**अहम् चैतन्य–आत्मानम् आत्मानम् अचलं संचेतये**) मैं (अपने) चैतन्य स्वरूप आत्मा का निश्चलतया संचेतन-अनुभव करता हूँ।

भावार्थ :– ज्ञानी कहता है कि – जो कर्म उदय में आता है उसके फलको मैं ज्ञातादृष्टारूप से जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता,

इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-दृष्टा ही होऊँ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि – अविरत, देशविरत तथा प्रमत्त संयत दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है।। २३०।।

कलश २३० पर प्रवचन

समस्त कर्मफल की सन्यास की भावना करनेवाला कहता है कि – ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं तथा इनके भेद-प्रभेद करें तो एक सौ अड़तालीस भेद होते हैं। ज्ञानी के इन समस्त कर्मों के फलों को त्यागने की भावना होती है। ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं कि कर्मरूपी विष वृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही खिर जाओ। देखो! ज्ञानीजनों को शुभभावों के जोर में विश्व कल्याण की भावना होने से तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का भी बन्ध होता तो है; किन्तु वे उसे भी विष वृक्ष ही मानते हैं; क्योंकि उन्हें तीर्थंकर पद जैसे महान् यश का भी लोभ नहीं रहता। साधारण लोगों को ऐसा लग सकता है कि तीर्थंकर जैसे पवित्र पद को विष वृक्ष की हीन उपमा क्यों दी जा रही है; पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञानी को भूमिकानुसार शुभभाव होते हैं; परन्तु उन्हें सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फल के प्रति हेयबुद्धि हो गई है, अतः वे सभी कर्मों से पीछे हट गये हैं, सबका प्रत्याख्यान कर चुके हैं। अतः वे भावना भाते हैं कि जो हमने पूर्व में शुभाशुभ कर्म बाँधे थे, वे सब विषवृक्ष के फल हैं, वे सब बिना फल दिये ही खिर जावें।

किसी को यह बात अटपटी लग सकती है; परन्तु यह तो अनादि सिद्ध वीतरागता का मार्ग है। अहाहा—! आनन्दकन्द अमृत का सागर भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द अमृत से सर्वांग भरा है उसका फल तो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है।

जैसे काले नाग के डसने से चढ़े जहर वालों को नीम के पत्ते मीठे लगते हैं, उसी तरह जिसे मिथ्यात्व के काले नाग ने डस लिया हो, उसे

पुण्य के फल में प्राप्त विषय-कषाय का स्वाद भी मीठा लगता है। पुण्य के फल में प्राप्त सेठाई और ठकुराई के बड़प्पन का स्वाद भी मीठा लगता है; जबकि उसमें अनन्त आकुलता रूप दुःखद जहर ही जहर होता है। भाइ ! कर्मों के फल विषवृक्ष के ही फल हैं, उनमें मिठास है ही कहाँ। अतः धर्मी जीव कहते हैं कि ये कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही नष्ट हो जावें, खिर जावें। उनकी भावना कर्मफल भोगने की बिल्कुल नहीं है। वे तो कहते हैं कि 'हम तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द निज आत्मा का ही संचेतन करते हैं।

यद्यपि साता वेदनीय के उदय में पुण्य के फल स्वरूप भोग सामग्री प्रचुर मात्र में मिलती है, परन्तु ये सब ज्ञानियों को विषफल जैसे ही प्रतीत होती हैं, विचार करने पर आकुलतामय होने से दुःखदाई ही लगती है इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने वाले ज्ञानी जन कहते हैं कि ये कर्मफल भोगे बिना ही खिर जावें।

इसप्रकार पहले कर्मचेतना के त्याग की भावना भाई ! अब कर्मफल चेतना की भावना भाते हैं।

कलश २३० के भावार्थ पर प्रवचन

राग-द्वेष और हर्ष-शोक को भोगने का भाव कर्मफलचेतना है। उसका परित्याग करके ज्ञानी कहते हैं कि 'मै अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को चेतता हूँ आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।'

ज्ञानी जानते हैं कि जो कर्म पूर्व में बांधे थे और अभी सत्ता में पड़े थे, वे उदय में आकर प्रगट हुए हैं। उनके फल को मैं ज्ञाता-दृष्टा रहकर जानता देखता हूँ। जो विकारी भाव हुए उन्हें भी मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा रूप से जानता-देखता हूँ। 'पुण्य-पाप के फल को मैं अपने में मिलाता नहीं हूँ।' मैं ऐसा अनुभव नहीं करता कि वे पुण्य-पाप के फल मेरे हैं।

अरे ! अज्ञानी जीव अनादिकाल से बाहर के जंजाल में उलझा है। वह दया-दान, व्रत आदि की रुचि में ऐसा उलझा है, फंसा है कि उसे अपना निरुपाधि अकृत्रिम चैतन्यमय अस्तित्व दिखाई ही नहीं देता। अहा ! 'मैं स्वयं त्रिकाली भगवान आत्मा हूँ' उसे ऐसा विश्वास ही नहीं होता। ये

शुभाशुभ विकारी परिणाम क्षणिक हैं, कृत्रिम उपाधि हैं, और पुद्गल की छाया है तथा इनका फल जो हर्ष-शोक रूप आता है, वह सब भी पुद्गल का ही परिवार है, तथापि अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूलकर इसमें ही अपनापन मानकर अनादिकाल से वह इन्हीं में अटका हुआ है। बस, यही बड़ी भारी शल्य है। जिसने निजस्वरूप की दृष्टि करके इस महाशल्य को दृष्टि से निकाल दिया है, निवारण कर दिया है, वे ज्ञानी हैं। वे ज्ञानी कहते है। कि – जो कर्म उदय में आते है। मैं तो उनके फल को मात्र उदासीन भाव से जानता-देखता ही हूँ – मैं उनका भोक्ता नहीं होता।

अहाहा—! त्रिकाल ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव चैतन्य का प्रवाहस्वरूप आनन्द का नाथ अपना आत्मप्रभु अन्दर में विद्यमान वस्तु है, उसमें न विकार है और न अपूर्णता है। ऐसी अपनी आत्मवस्तु की जिसे अतिशय रूप से लगन लग गई है, उसे स्व के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर आनन्द सहित अनन्त गुणों की आंशिक व्यक्तता हो जाती है। जिसे ऐसी स्वानुभव की दशा प्रगट होती है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी ऐसा मानता है कि जो कर्म का फल उदय में आता है, उसे मैं भोगता नहीं हूँ। मैं तो उसे मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव से जानता-देखता हूँ। ऐसा श्रद्धान चौथे गुणस्थान से ही हो जाता है। यहाँ इससे विशेष चारित्र की बात है। अतः कहते हैं कि – मैं उन कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ इसलिए वे कर्म मेरे भोगे बिना ही खिर जाओ।

अब कहते हैं कि – चौथे-पाँचवें तथा छठवें गुणस्थान अर्थात् प्रमत्त संयत दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, किन्तु जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है।

देखो, चौथ-पाँचवें गुणस्थान में राग की एकता टूटी है, किन्तु अभी यहाँ अस्थिरता नहीं छूटी। पाँचवें गुणस्थान में देशविरत श्रावक को आनन्द की वृद्धि जरुर हुई है, तथापि उसे अभी अस्थिरता का भाव होता है। छठवें गुणस्थान में भी यद्यपि अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाया का अभाव हुआ है, प्रचुर आनन्द का संवेदन वर्तता है; किन्तु अभी प्रमत्त दशा है, प्रमादजनित

राग है; इसकारण इन तीनों ही अवस्थाओं में ज्ञान-श्रद्धान ही मुख्य है। जब यह जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्तकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् हाता है।

चौथे, पाँचवें एवं छठवे गुणस्थान में ज्ञान-श्रद्धान मुख्य है। जब मुनिराज सातवें गुणस्थान में पहुँचते हैं, तब अस्थिरता समाप्त हो जाती है। अहो! मुनिवरों की यह कोई अलौकिक दशा है। अहा ! जो अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं, वे जैन मुनिराज है। दिगम्बर जैन मुनिराजों के सिवाय अन्यों में तो यह बात ही नहीं है। जब वे सातवें गुणस्थान से छटवें में आते हैं तब भी ज्ञान-श्रद्धान की ही मुख्यता है; क्योंकि वहाँ अभी भी अस्थिरता है। जो राग आता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहता है, इस अपेक्षा उनके राग नहीं है – ऐसा कह दिया जाता है; किन्तु जितनी अस्थिरता है, उतना उनको भी दुःख है। ज्ञानी के साधक दशा में दुःख होता ही नहीं है – यह बात नहीं है। उन्हें महाव्रतादि के जो विकल्प उठते हैं, वे आस्रव हैं। आस्रव दुःखकारक है, अतः उन्हें उस आस्रवजन्य दुःख तो है ही। ज्ञानी को शुभ राग आता है; पर वह उन्हें आग जैसा ही जलाता है। छहढाला में कहा भी है –

'यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।'

अरे भाई ! जिस शुभ भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, वह शुभभाव भी ज्ञानी को आग जैसा ही लगता है।

(अब टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं :–)

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मात्मानमेव संचेतये १। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये२। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतनयात्मानमात्मानमेव संचेतये ६। नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुजें, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव ४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५। नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये संचेतये ८। नाहं केवल दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैत न्यात्मानमात्मान–

मैं (ज्ञानी होने से) मतिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ। (यहाँ 'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना। 'सं' उपसर्ग लगने से, 'संचेतना' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अथ यहाँ समस्त पाठों में समझना चाहिये।) ।१। मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन–अनुभव करता हूँ ।२। मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।३। मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।४। म केवलज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।५।

मैं चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।६। मैं अचक्षुदर्शनावरणीयकर्म के फल को भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।७। मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ।८। मैं केवलदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप

मेव संचेतये ९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान–मात्मानमेव संचेतये १०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमा– त्मानमेव संचेतये ११।नाहं प्रचलादर्शनावरणीय कर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतय१२। नाहं प्रचलाप्रचला दर्शना–बरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये१३। स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४।

नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५। नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये१६।

नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १७। नाहं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानम व संचेतये १८। नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्व मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमा–

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९। मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, च तन्यस्वरूप आत्मा का ह ी संचेत न क रता हूँ।१०। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्म के फल को नही नही भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११। मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२। मैं प्रचला प्रचलादर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३। मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४।

मैं सातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१५। मै। असातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१६।

सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१७। मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के फल को नही

त्मानमेव संचेतये१९। नाहमनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमे संचेतये २०। नाहमप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतयें २१। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २२। नाहं संज्वलनक्रोधकषाय वेदनीय–मोहनीयकर्म फल भजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचतये२३। नाहमनंता–नुबंधिमान कषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतय २४। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म फल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेवसंचेतये२५। नाहं प्रत्याख्यानावरणीय –मानकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव

भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१८। मै सम्यक्त्व मिथ्यात्व– मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता ह ।१९। मैं अनन्तानुबन्धीक्रोधकषाय वेदनीय–मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२०। मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२१। मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकमे के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२२। मैं संज्वलन क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२३। मैं अनन्तानुबन्धि मानकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतनकरताहूँ।२४। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीयमोहनीय – कर्म के वेदनीय फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२५। मैं प्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२६।

संचेतये२६। नाह संज्वलनमानकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफल भुंजे कर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये२७। नाहमनंतानुबंधि–मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव कषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव नाहं संचेतये २८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषाय वेदनीयमोहनीय कर्म फलंभुंजे,चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये२९। नाहं प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३०। नाह संज्वलनमायाकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३१। नाहमनंतानुबंधिलोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३२। नाहमप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफल भुंजे,चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये३३। नाहं प्रत्याख्यानावरणीलोभ

मैं संज्वलन मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२७। मैं अनन्तानुबन्धी मायाकषायवेदनीयमोहनीयकम के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२८। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषाय–वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।२६। मैं प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीयमोहनीय–कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३०। मैं संज्वलन मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३१। मै अनन्तानुबन्धि लोभ कषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३२। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३३। मैं प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीयमोहनीय

कषायवेदनीयमोहनीयकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३४। नाहं संज्वलन लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३५। नाहं हास्यनोकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये३६। नाह रति नोकषाय वेदनीय मोहनीयकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३७।। नाहमरति नोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३८। नाहं शोकनोकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३९। नाहं भयनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४० ।नाहंजुगुप्सानोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४१ ।नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४२।नाहं पुंवेदनोकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान–

कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३४। मैं संज्वलन लोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३५। मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३६। मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३७। मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३८। मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।३९। मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४०। मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४१। स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य

मात्मानमेव संचेतये ४३। नाहं नपुंसकवेदनोकषाय वेदनीय मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४४। नाहंनरकायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४५। नाहं तिर्यगायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४६। नाहं मानुषायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४७। नाहं देवायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४८। नाहंनरकगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेवसंचेतये ४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५०। नाहंमनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५१। नाहंदेवगतिनामकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५२। नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५३। नाहं द्वीद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४२। मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४३। नपुंसक वेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४४। मैं नरक-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४५। मैं तिर्यंच-आयुकर्मके फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४६। मैं मनुष्यआयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४७। मैं देवआयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४८। मैं नरकगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।४९। मैं तिर्यंचगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५०। मैं मनुष्य कर्मनामगति के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५१।

५४। नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५५।नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६।नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७।नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८। नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९।नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये६०।नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६१। नाह कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२। नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनाम कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३। नाहं वैक्रियिक शरीरांगो–

मैं देवगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५२। मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५३। मै द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५४। मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५५। मैं चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५६। मैं पंचेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५७। मैं औदारिक शरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५८। मैं वैक्रियिक शरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।५९। मैं आहारक शरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६०। मैं तैजसशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६१। मैं कार्मणशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का

पांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४। नाहमाहारक शरीरांगोपांग नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५। नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६७। नाहमाहारकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये ६८। नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६९। नाहं कार्मणशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७०। नाहमौदारिकशरीरस घात -नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७१। नाहं वैक्रियिक-शरीर संघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७२।

ही संचेतन करता हूँ।६२। मैं औदारिकशरीरअंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६३। मैं वैक्रियिक शरीर-अंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६४। मैं आहारकशरीर-अंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६५। मैं औदारिकशरीर-बंधननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६६। मैं वैक्रियिकशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६७। मैं आहारकशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६८। मैं तैजसशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।६९। मैं कार्मण शरीरबन्धनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७०। मैं औदारिकशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७१। मैं वैक्रियिक शरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा

नाहमाहारक शरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७३। नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७४। नाहं कार्मणशरीर संघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७५। नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७६। नाहं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७७। नाहं स्वातिसंस्थान -नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७८। नाहं कुब्जक-संस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७९। नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८०। नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये८१। नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव

का ही संचेतन करता हूँ।७२। मैं आहारकशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७३। मैं तैजसशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७४। मैं कार्मणशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७५। मैं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७६। मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७७। मैं स्वातिसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७८। मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।७९। मैं वामनसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८०। मैं हुंडकसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८१। म वजवृषभनाराच-

संचेतये ८२। नाहं वज्रनाराच संहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान—मात्मानमेव संचेतये ८३। नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८४। नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८५। नाहं कीलिकासंहनननाम-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८६। नाहमसंप्राप्तासृ-पाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८७। नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८८। नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८९। नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९०। नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९१। नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

संहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८२। मैं वज्रनाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८३। मैं नाराच-संहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८४। मैं अर्धनाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८५। मैं कीलिका-संहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८६। मैं असंप्राप्तसृपाटिकासंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का संचेतन करता हूँ।८७। मैं स्निग्ध स्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८८। मैं रूक्षस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।८९। मैं शीतस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९०। मैं उष्ण स्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन

९२। नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९३। नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९४। नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९५। नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९६। नाहमाम्लरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९७। नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९८। नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
९९। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
१००। नाहं सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
१०१। नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
१०२। नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

करता हूँ।९१। मैं गुरुस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९२। मैं लघुस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता,चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९३। मैं मृदुस्पर्शनाम–कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९४। मैं कर्कशस्पर्शकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९५। मैं मधुररसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९६। मैं आम्लरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९७। मैं तिक्तरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९८। मैं कटुकरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।९९। मैं कषायरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१००। मैं सुरभिगंधनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०१। मैं असुरभिगंधनामकर्म के फल को नहीं

१०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०४। नाहं पीतवर्णनामकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०६। नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान–मात्मानमेव संचेतये १०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनाम कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म–फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १११। नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११३। नाहमुपघातनामकर्मफलं

भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०२। मैं शुक्लवर्ण–नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप संचेतन करता हूँ।१०३। मैं रक्तवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०४। मैं पीतवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०५। मैं हरितवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०६। मैं कृष्णवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०७। मैं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०८। मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१०९। मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११०। मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१११। मैं निर्माणनामकर्म के फल को नहीं भोगता,

चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनाम कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११९। नाहमप्रशस्त विहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२०। नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२१।नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२२। नाहं स्थावरनामकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११२। मैं अगुरुलघुनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११३। मैं उपघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११४। मैं परघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११५। मैं आतपनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सचेतन करता हूँ।११६। मैं उद्योतनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११७। मैं उच्छ्वासनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११८। मैं प्रशस्तविहायोगति – नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।११९। मैं अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२०। मैं साधारणशरीरनाम–कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२१। मैं प्रत्येकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२२। मैं स्थावरनामकर्म के फल का

१२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतय१२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतय १२७। नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२९। नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३०। नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३१। नाहं बादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२३। मैं त्रसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२४। मैं सुभगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२५। मैं दुर्भगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२६। मैं सुस्वरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२७। म दुःस्वरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२८। मैं शुभनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१२९। मैं अशुभनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३०। मैं सूक्ष्मशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३१। मैं बादरशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३२। मैं पर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३३। मैं अपर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं

१३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
१३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३५।
नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३६।
नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३७।
नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३८।
नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३९।
नाहमयशःकीर्ति नामकर्मफल भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४०।
नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४१।
नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४२।
नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४३।
नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४४।

भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३४। मैं स्थिरनाम- कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३५। मैं अस्थिरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३६। मैं आदेयनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३७। मैं अनादेयनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३८। मैं यशःकीर्तिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१३९। मैं अयशःकीर्तिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४०। मैं तीर्थंकरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४१। मैं उच्चगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४२। मैं नीचगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४३।

नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४५।
नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४६।
नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४७।
नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४८।

मैं दानांतरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४४। मैं लाभातंरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४५। मैं भोगांतरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४६। मैं उपभोगांतरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४७। मैं वीर्यांतरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।१४८। (इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करता है)।

(यहाँ भावना का अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव सम्यक्दृष्टि–ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान–श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९–४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थावाले जीव के ज्ञानश्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके एकाग्र चित्त से ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोग भाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ

परमानन्द में मग्न रहता है।')

अब टीका में सकल कर्मफल के सन्यास की भावना को भाते है। –

यहाँ टीका में 'संचेतन' शब्द आया, उसका अर्थ है – अनुभव करना, वेदन करना, भोगना। 'सं' उपसर्ग लगाने से एकाग्रपने अनुभव करना – ऐसा अर्थ अनेक व्याख्याकारों ने किया है।

देखो, यहाँ समझने जैसी बात यह है कि भगवान आत्मा अन्दर में ज्ञान व आनन्द का सागर है। जिसने उसे स्व-सन्मुख होकर जाना, अनुभव किया उसे ज्ञानी कहा गया है। वह ज्ञानी कहता है कि 'मैं मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता।' देखो, यद्यपि अभी मतिज्ञानावरणीय कर्म का उदय है तथा उसके निमित्त से ज्ञान की हीनदशा भी है, परन्तु यह सब व्यवहार को छोड़कर उससे भिन्न 'मैं अपने शुद्धचैतन्य का अनुभव करता हूँ' – यहाँ यह बात है।

कर्मप्रकृति के मूलतः आठ भेद हैं। उनमें ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं – १. मतिज्ञानावरणीय, २. श्रुतज्ञानावरणीय, ३. अवधिज्ञानावरणीय,४. मनःपर्ययज्ञानावरणीय और ५. केवलज्ञानावरणीय। मुनियों के भी ये प्रकृतियाँ होतीं हैं। यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि – मतिज्ञाना–वरणी कर्म के फल में जो मेरी ज्ञान की हीन दशा है, उस पर मेरा लक्ष्य नहीं है। मेरा लक्ष्य तो त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा पर है। इसकारण मैं मतिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। मैं उससे भिन्न अपने ज्ञान अर्थात् ज्ञायक स्वभाव का ही संचेतन करता हूँ, उसी का एकाग्रपने अनुभव करता हूँ, वेदन करता हूँ।

मतिज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम निमित्त और ज्ञान की हीन दशा नैमित्तिक – ऐसा जो व्यवहार है, वह हेय है। इसकारण ज्ञानी कहते हैं कि – मैं उसे भोगता नहीं हूँ।

बात सूक्ष्म है बापू! मति ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति सत्ता में पड़ी है, उसका उदय भी है तथा उसके निमित्त से ज्ञान की हीनदशा भी है; किन्तु वह हीनदशा कर्म का फल है, उसे मैं कैसे भोगूँ ? मैं तो उससे भिन्न

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान हूँ, मैं तो अपने उस भगवान आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

शरीर, वाणी, स्त्री, महल-मकान एवं प्रतिष्ठा आदि सब संयोग तो बाह्य वस्तुयें हैं। उन्हें आत्मा भोगता है या भोग सकता है – यह तो बात ही असंभव है। यहाँ तो ज्ञानी कहते हैं कि – ज्ञान की वर्तमानहीन दशा भी कर्म का फल है, उसे भी मैं नहीं भोगता।

वर्तमान में तो करणानुयोग के बहाने अधिकांश ऐसा ही माना एवं कहा जाता है कि 'कर्म के कारण विकार होता है,' परन्तु यह बात ठीक नहीं है। कर्म तो निमित्त मात्र है, विकार रूप कार्य तो उपादान में उपादान की तत्समय की योग्यता से होता है। विकार का उपादान जड़ कर्म नहीं, बल्कि जीव है। विकार होने में हीन दशा का परिणमन मेरे में मेरे से होता है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं, मानते हैं। यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि वह हीनदशा मेरा स्वरूप नहीं है, मैं नहीं हूँ, मैं उसे भोगता भी नहीं हूँ। अब मेरा लक्ष्य स्वभाव में जुड़ गया है, स्वभाव सन्मुख हुआ है। राग व हीन दशा के पक्ष को छोड़कर अब मुझे स्वभाव का पक्ष हो गया है। भाई ! जन्म-मरण से छूटने की एकमात्र यही विधि है, यही मार्ग है। चैतन्यस्वरूप निज आत्मतत्त्व की, ज्ञायकतत्त्व की दृष्टि करना ही एकमात्र धर्म का मार्ग है। पर्याय की इसमें बात ही नहीं है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव भी पर्याय है; परन्तु उसे पर्याय का आश्रय नहीं है, उस पर्याय को त्रिकाली द्रव्य का ही आश्रय है।

प्रश्न :– भगवान को जो सर्वज्ञपद प्रगट हुआ, वह कहाँ से प्रगट हुआ ? क्या कर्मों के अभाव से प्रगट हुआ ?

उत्तर :– नहीं, कर्मों के अभाव से नहीं।

प्रश्न :– तो क्या अपूर्णदशा के अभाव से प्रगट हुआ ?

उत्तर :– नहीं, बिल्कुल नहीं। अरे भाई ! अन्दर में द्रव्यस्वभाव में सर्वज्ञपद विद्यमान है, उसमें से वह सर्वज्ञ पर्याय प्रगट हुई है। वर्तमान पर्याय में भले पूर्णता न हो; पर पूर्ण आनन्द से भरा तू स्वयं चिदानन्द प्रभु है

न ! ज्ञानी कहते हैं कि – मैं उसी चिदानन्दप्रभु का संचेतन करता हूँ, एकाग्रपने से अनुभव करता हूँ।

अब कहते हैं कि – जो उस द्रव्यस्वभाव का संचेतन करती है, वह स्वयं पर्याय है, किंतु उस पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं; बल्कि उसे तो त्रिकाली द्रव्य स्वभाव का ही आश्रय है।

बिचारे अज्ञानी रंक को अन्दर में विद्यमान परमऋद्धि का पता नहीं है। परंतु धर्मात्मा ज्ञानी कहते हैं कि – मैं कर्मफल को नहीं भोगता। मैं तो त्रिकाली परमऋद्धि स्वरूप निजचैतन्य को ही अनुभवता हूँ। अब कहते हैं कि – 'मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता। मुझे उसका लक्ष्य नहीं है। मेरा ध्येय तो ध्रुवधाम प्रभु आत्मा है। उसका मुझे आलम्बन है। मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप का ही संचेतन करता हूँ।'

इसीप्रकार अवधिज्ञानावरणीय कर्म की एक जड़प्रकृति है, उसके निमित्त से अवधिज्ञान के अभावरूप ज्ञान की हीन दशा है, मैं उस हीन दशा को नहीं भोगता, उसपर मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन, अनुभव करता हूँ।

प्रश्न :– जब मनःपर्ययज्ञान है ही नहीं तो उसे भोगने या न भोगने की बात ही नहीं बनती ? फिर भी 'मैं उसे नहीं भोगता' – ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर :– यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के किसी भी कर्मफल का स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी का पर्याय की ओर जोर ही नहीं है, एक निजानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा का ही जोर है। यह बताने के लिए एक–एक कर्म–प्रकृति के नाम के साथ निषेध किया गया है।

प्रश्न :– अभव्य के तो मनःपर्यय और केवलज्ञान होता ही नहीं है, इसकारण उसके पाँचों प्रकृतियों का आवरण नहीं होता है ?

उत्तर :– अभव्य के भी ज्ञानावरणीय की पाँचों प्रकृतियों का आवरण होता है। अभव्य के आत्मा में भी मनःपर्यय व केवलज्ञान होने की शक्ति होती है, किन्तु उसके उस शक्ति के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है।

पाँचवें बोल में कहते हैं कि – केवलज्ञानावरणीय कर्म के उदय के निमित्त से केवलज्ञान का स्वतः अभाव है पर ज्ञानी का उस अपूर्ण दशा पर लक्ष्य नहीं है, वह एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप आत्मा का ही सम्यक्‌रूप से अनुभव करता है।

देखो, कर्म की १४८ प्रकृतियाँ हैं। सभी जीवों को १४८ कर्म प्रकृतियों की सत्ता तथा उदय आदि सदा नहीं होते; परन्तु सामान्य वर्णन करने में सभी भेद-प्रभेदों की बात कहने में आती है। क्षायिक समकिती को मिथ्यात्व सम्बन्धी तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं होती। परन्तु अन्य सम्यग्दृष्टियों के तीनों प्रकृतियाँ सत्ता में होते हुये भी ज्ञानी का उन पर लक्ष्य नहीं होता, इसलिए वे कहते हैं कि – मैं उन्हें भोगता नहीं हूँ।

आहारक नामकर्म की प्रकृति के चार भेद हैं – आहारक शरीर नामकर्म, आहारक अंग-उपांग नामकर्म, आहारकबंध नामकर्म और आहारक संघात नामकर्म। ये प्रकृतियाँ भी सभी को नहीं होती। ये प्रकृतियाँ मुनि के ही होती हैं। उनके उदय के फल को ज्ञानी भोगता नहीं है।

एक तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति भी सभी को नहीं होतीं। मिथ्यादृष्टि की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो क्षणिक रागादि भाव से भिन्न पड़कर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेने की बात है। यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि – मैं प्रकृति के उदय के फल को नहीं भोगता हूँ। तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आता है, किन्तु यदि वह प्रकृति भी ज्ञानी की सत्ता में पड़ी हो तो उसके फल की ओर भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं रहता। 'भविष्य में मैं तीर्थंकर होनेवाला हूँ' – ऐसा भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं रहता। वह तो तीर्थंकर प्रकृति के फल को भी विषवृक्ष का फल जानता है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष कहता है कि – 'मैं ज्ञानावरणी आदि कर्मों के फलों को नहीं भोगता हूँ। मैं तो निर्विकार, पूर्ण, पर्याय की पामरता से पृथक् तीनलोक का नाथ ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ। मैं अपने ऐसे निजज्ञायकस्वरूपी आत्मा का ही संचेतन करता हूँ, अनुभव करता हूँ। वर्तमान ज्ञान की अधूरी दशा पर मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं पूर्ण वस्तु का अनुभव

करता हूँ।'

ज्ञानी इसीप्रकार दर्शनावरणीकर्म की प्रकृतियों के सम्बन्ध में विचार करता है कि – मैं चक्षुदर्शनावरणी, अचक्षुदर्शनावरणी, अवधिदर्शनावरणी, केवलदर्शनावरणी आदि कर्मों के फल को नहीं भोगता हूँ। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। जो प्रकृतियाँ उदय में हैं और सत्ता में पड़ी हैं, उनके निमित्त से हीन दशा भी है; किन्तु ज्ञानी का उनके वेदन के प्रति लक्ष्य नहीं है, उधर झुकाव नहीं है, वह पूर्णानन्द के नाथ सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा का ही वेदन करता है, अनुभवन करता है।

धर्मी कहता है कि – यद्यपि मुझे अवधिज्ञान, अवधिदर्शन तथा केवलज्ञान व केवलदर्शन नहीं है, तो भी अवधि एवं केवल दर्शनावरणीयकर्म की ओर मेरा झुकाव नहीं है, लक्ष्य नहीं है। मेरा लक्ष्य तो एक शुद्ध चिदानन्दकन्द प्रभु आत्मा पर ही है।

इसीप्रकार निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला–प्रचला एवं स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणीय के कर्मों के फल को भी ज्ञानी नहीं भोगते। सम्यग्दृष्टि को निद्रा आती है, वह प्रकृति का उदय है। परंतु ज्ञानी कहता है कि – 'मैं इन्हें भोगता नहीं हूँ। इनके वेदन के प्रति मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं तो इनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।'

इसीप्रकार वेदनी कर्म की जो दो प्रकृतियाँ हैं, उनमें साता वेदनी कर्म के निमित्त से बाह्य सामग्री – धन, कुटुम्ब, परिवार, शरीर की नीरोगता आदि की प्राप्ति होती है तथा असाता के उदय में प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, उनके प्रति भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है। वह विचारता है कि – साता के उदय में जो फल प्राप्त होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसे भोगता नहीं हूँ। मैं तो निज चैतन्यमूर्ति चिद्रूप प्रभु आत्मा में ही चेतता हूँ। इसी तरह असाता के उदय में जो रोग आदि प्रतिकूलतायें प्राप्त होती है, ज्ञानी उन्हें भी नहीं भोगता है।

यहाँ चारित्र की मुख्यता से बात है। चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा

अन्दर विराजता है, उसका वेदन और साक्षात्कार होने पर जिसे स्वरूप की रमणता हुई है, वह धर्मी पुरुष कहता है कि – 'मैं असाता कर्म के उदय को नहीं भोगता हूँ।' देखो, सनतकुमार चक्रवर्ती हुए। चक्रवर्ती के पुण्य और वैभव से कौन परिचित नहीं है; फिर भी न जाने दीक्षा लेने के बाद उनका वह पुण्य कहाँ चला गया ? उनके भी तीव्र असाता का उदय आया और शरीर में गलना कोढ़ हो गया। अंग-अंग गल गये; परन्तु आचार्य कहतें हैं कि वे ज्ञानी थे, अतः भयंकर असाता के उदय के फल के वे मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहे। उन्होंने उस असाता के फल को भोगा ही नहीं। वे तो अपने अन्दर विराज रहे आनन्द के रसकन्द प्रभु आत्मा का आनन्द ले रहे थे, उसी का अनुभव करते थे, उसी का संचेतन करते थे। अपने ऐसे स्वरूप की महिमा हम सबको आनी चाहिए – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

कोई सम्यग्दृष्टि सातवें नरक में हो तो वहाँ भी उसे परमार्थ से अन्तर में असाता का वेदन नहीं है। असाता जनित जो राग (विकल्प) आता है, उसका किंचित् वेदन है, परन्तु वह गौण है। मुख्यपने से तो वह भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा के आनन्द को ही वेदता है। यहाँ चारित्र की बात लेना है। उसके अन्तरंग में आनन्द के नाथ आत्मा के अनुभव की जमावट जमी है। जैसे कोई बहुत प्यासा पुरुष गन्ने के रस के बड़े-बड़े घूंट पी जाता है, उसी तरह जो धर्मी आनन्दरस का रसपान करता है, वह कहता है कि – मैं असाता के फल का वेदन नहीं करता हूँ, मैं दुःखी नहीं हूँ, मैं तो आनंद के नाथ आत्मा में लीन हूँ। अब मोहनी कर्म की २८ प्रकृतियों के सम्बन्ध में ज्ञानी कहते हैं कि – मैं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) एवं सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कर्म के फल को नहीं भोगता। कर्म प्रकृतियाँ निमित्त हैं, विकृत अवस्था नैमित्तिक है, उन दोनों का सम्बन्ध है, उन्हें जानना व्यवहार है। कर्मोदय से विकार नहीं होता; किन्तु कर्म के आधीन होकर जीव की स्वयं की योग्यता से विकार होता है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। यद्यपि क्षायिक समकिती को तो ये प्रकृतियाँ नहीं होतीं; फिर जिनके भी ये प्रकृतियाँ होतीं हैं, वे ज्ञानी इनके फल को भोगते नहीं हैं।

सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में थोड़ा दोष तो लगता है, परन्तु वे उसे भी भोगते नहीं है। वे तो मात्र स्वरूप का ही संचेतन करते हैं।

यद्यपि समकित होने पर उपशम व क्षयोपशम सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व की सभी प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती हैं तो भी ज्ञानी कहते हैं कि 'हम उन्हें भोगते नहीं है। उनके फल को भोगने के प्रति हमारा लक्ष्य नहीं है। हम तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ही अनुभव करते है।'

आगे कहते हैं कि – मैं अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय वेदनीय मोहनीकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ। यहाँ 'अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय वेदनीय मोहनीयकर्म' ऐसा वाक्य जो कहा है, उसका अर्थ है – अनन्त संसार के कारणभूत क्रोध का वेदन। मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी क्रोध ही अनन्त संसार का कारण है। समकिती को इसका उदय नहीं होता। सत्ता में कोई कर्म पड़ा हो, उसका क्षय नहीं हुआ हो तो भी ज्ञानी उसे नहीं भोगता। वह तो शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप का ही संचेतन करता है।

अब ज्ञानी कहता है कि – 'मैं अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन सम्बन्धी क्रोध कषाय वेदनी मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता;' मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगता हूँ।' देखो, यहाँ पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में जहाँ चारित्रदशा प्रगट हुई है, वह बात है। वहाँ जो भी चारित्र सम्बन्धी राग है, उसे ज्ञानी नहीं भोगता। यहाँ चारित्र की विशेष निर्मलता की बात है। आत्मा निजानन्दरस में रमता है, उसे चारित्र कहते हैं। ऐसे आत्मा के आनन्द का स्वाद लेने वाले धर्मी पुरुषों को इन्द्र सरीखे भोग भी सड़े-गले तिनके जैसे तुच्छ लगते हैं।

इसप्रकार जैसे क्रोध कषाय की चौकड़ी की बात की; उसीप्रकार मान, माया एवं लोभ कषाय की चौकड़ी के फल के त्याग की भी ज्ञानी भावना भाते है, कहते हैं कि मैं इन कर्मों को नहीं भोगता। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

नो कषाय मोहनीयकर्म की प्रकृति के जो हास्य, रति, अरति, शोक,

भय, जुगुप्सा एवं स्त्री-पुरुष व नपुंसक वेद के भेद कहे, ज्ञानी उनके फल को भी नहीं भोगता।

हास्य में हास्य, कोतूहल, विस्मय आदि भाव; रति कषाय में राजी होना, खुश होना आदि भाव; अरति में द्वेष, अरोचकता, शोक में उदासीनता का भाव; गमगीन वातावरण, इष्टवियोग जनित दुःखद परिणाम; भय, जुगुप्सा एवं तीनों वेद सम्बन्धी उदयजन्य भावों को भी ज्ञानी भोगते नहीं हैं। वे तो चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

देखो, यहाँ समकिती चारित्रवंत पुरुष की बात है। कोई भी प्रकृति सत्ता में पड़ी हो तो उसकी ओर मेरा लक्ष्य या झुकाव नहीं है। विषय-वासना के भाव को मैं भोगता नहीं हूँ। मैं तो प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का ही भोग करता हूँ। उसमें वेद-प्रकृति का उदय समाता ही नहीं है। कोई भी प्रकृति सत्ता में पड़ी हो, उसके वेदन में मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं अन्तर में विराजमान अपने आत्मा में लीन रहता हूँ, रहने की भावना भाता हूँ। मेरे ध्यान का ध्येय तो मेरा भगवान आत्मा ही है।

आयुकर्म के सम्बन्ध में भी ज्ञानी ऐसा ही विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं कि – मैं नरक आयु, तिर्यंच आयु, मनुष्य आयु एवं देव आयु कर्म के फल को नहीं भोगता। मैं तो चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

इसीप्रकार नामकर्म की जो ९३ प्रकृतियाँ हैं, उनके विषय में भी ज्ञानी का चिन्तन उपर्युक्त प्रकार से ही होता है। जिनका विस्तृत वर्णन मूल टीका में है ही, वहीं से जान लें। इस टीका का वाचन करते हुए गुरुदेवश्री ने जो बीच-बीच में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है, उनका संक्षिप्त कथन इसप्रकार है –

देखो, कोई-कोई मुनिराज को आहारक प्रकृति का उदय होता है, जिसके फलस्वरूप उनके मन में उठी शंका के समाधान हेतु उनके मस्तक से आहारक शरीरधारी सफेद पुतला निकलता है, जो केवली के पादमूल में जाकर शंका का समाधान करता है। वे मुनिराज कहते हैं कि – इस

आहारक प्रकृति के फल को मैं भोगता नहीं हूँ। इस पर मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं तो एक आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

आचार्य कहते हैं अहाहा---! भगवान आत्मा महान् बादशाह है। वह अनन्तगुणों का धनी प्रभु है। उसके प्रत्येक गुण में अनन्त गुणों का रूप है। अहा ! अनन्त धर्मत्व नाम की आत्मा में एक शक्ति है। दूसरे जितने भी अनन्त गुण आत्मा में है, उन सब में, प्रत्येक में अन्य अनन्त गुणों का रूप है। ज्ञान में, दर्शन में, आनन्द में, वीर्य में, अस्तित्व में, वस्तुत्व में – इसप्रकार प्रत्येक में अन्य समस्त गुणों का रूप है। जैसे कि ज्ञान में अस्तित्व का रूप है। ऐसे अनन्तगुणों का समुद्र प्रभु मैं स्वयं हूँ। मैं उसी एक का ही अनुभव करता हूँ।

धर्मी कहते हैं कि – बाहर में जो यश मिलता है या अपयश होता है, वह मैं नहीं हूँ। अन्दर आत्मा के गुणों का प्रगट होना ही वास्तविक यश है, जिसमें निराकुल आनन्द का वेदन होता है, वह मैं हूँ, उसमें ही मेरा वास्तविक यश है। आत्मा का अनुभव न होना ही आत्मा का अपयश है। मैं यश व अपयश प्रकृति को नहीं वेदता। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वरूप का ही वेदन करता हूँ।

इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करते हैं। जिसप्रकार सकल पुण्य-पाप के संन्यास की भावना की अर्थात् कर्मचेतना के त्याग की भावना की; उसीप्रकार सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना की।

यहाँ भावना का अर्थ है बारम्बार चिन्तवन करके उपयोग का अभ्यास करना। जब जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है, तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो होता ही है, परन्तु पूर्व में बाँधे हुए कर्म उदय में आते हैं, उनके निमित्त से होते हुए भावों का कर्त्तापना छोड़कर तीनोंकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा सर्व कर्मों के फल भोगने के त्याग की भावना करके एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है।

प्रश्न :– एक ओर तो यह कहते हैं कि – मुनिराज को, गणधर देव को भी राग का परिणमन होता है और दूसरी ओर यह कहते हैं कि – सम्यग्दृष्टि राग का कर्त्ता नहीं है। यह कैसी रीति है ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि, मुनि, गणधर तो क्या, छद्मस्थ अवस्था में तीर्थंकरों को भी भूमिकानुसार व्रतादि के विकल्प होते हैं। जितना जिसके राग का परिणमन है, उतने अंश में वे उस परिणमन के कर्त्ता हैं। यह बात प्रवचनसार में ४७ नयों के अधिकार में आई है। परन्तु सम्यग्दृष्टि को राग की रुचि नहीं है, 'राग मेरा कर्तव्य है' – ऐसी बुद्धि नहीं है, राग में स्वामित्व नहीं है, इसकारण वे अकर्त्ता हैं। 'राग करने लायक हैं, भोगने लायक हैं' – ऐसी मान्यता ज्ञानी को चौथे गुणस्थान से ही नहीं होती, इसकारण वे अकर्त्ता, अभोक्ता हैं। जहाँ जिस अपेक्षा जो बात हो, उसे वहाँ उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिए।

देखो, परवस्तु – दाल, भात, लाडू, शाक आदि को तो आत्मा भोग ही नहीं सकता; अज्ञानी भी इन्हें नहीं भोगता। हाँ, इनके लक्ष्य से जो रागादि की उत्पत्ति होती है, अज्ञानी उसे भोगता है और मानता यह है कि 'मैं पर का भोगोपभोग करता हूँ'। यही अज्ञानी का मिथ्याभ्रम है। यहाँ ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेष का भाव होते हुए भी ज्ञानी उसे भोगता नहीं है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनता।

अविरत, देशव्रत और प्रमत्त अवस्था वाले जीवों के किंचित् रागादि तो होते ही हैं, परन्तु ज्ञानी के ज्ञान-श्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो रहती ही है कि ये रागादि हेय हैं, त्यागने योग्य हैं। तथा वे बारम्बार त्रिकाली चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग को जोड़ने का पुरुषार्थ करते रहते हैं। इसी रीति से शुद्धोपयोग दृढ़ होता है।

सम्यग्दर्शन होने के काल में चतुर्थ गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग तो होता ही है। बाद में भी कभी-कभी ध्यान-ध्याता-ध्येय के विकल्पों से छूटकर वे शुद्धोपयोग में आ जाते हैं। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग अल्पकाल रहता है, इसकारण उसे न गिनकर सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग विशेष

(अधिक काल) रहता है, इसकारण यहाँ उसी शुद्धोपयोग की बात की है। चारित्रदशा की उत्कृष्टता बतानी है न ? इस कारण वहाँ सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग होने की बात कही है, क्योंकि वहाँ उपयोग की स्थिरता हुई है। अहा ! जब ऐसा शुद्धोपयोग होता है तब निश्चयचारित्ररूप भाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् वह अनन्त काल ज्ञानचेतनारूप रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।

पंचास्तिकाय की ३९ वीं गाथा में जो ऐसा कहा है कि 'ज्ञानचेतना तो कवली के ही होती है' सो वह तो पूर्णता की अपेक्षा से कहा गया है। ज्ञानचेतनारूप अनुभव की शुरुआत तो चौथे गुणस्थान से हो जाती है। राग से हटकर ज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होना ज्ञानचेतना है, और यह चौथे से प्रारंभ होती है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना होती है, परन्तु यहाँ पूर्ण नहीं होती। साथ में कर्मचेतना व कर्मफलचेतना भी होती है।

अहाहा---! यहाँ कहते हैं कि – साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन होने के पश्चात् आत्मा अनन्तकाल तक ज्ञानचेतनारूप रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है। देखो, त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से जिसे निर्मल रत्नत्र्यरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, उसका असंख्य समय है, और उसके फल में जो केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट हुई, उसका काल अनन्त है। साधकपने का काल असंख्य समय है, अनन्त नहीं; किन्तु उसके फल में जो सिद्धदशा प्रगट होती है, उसका काल अनन्त है।

अहाहा---! आत्मा द्रव्य का काल अनादि-अनन्त है, उसमें मिथ्यादृष्टि भव्यों का काल अनादि-सान्त है, साधक का काल सादि-सान्त है, तथा उसका फल सिद्धदशा सादि-अनन्त है। अहा ! परमसुखमय सिद्धदशा अनन्त-अनन्तकाल तक रहेगी।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वसन्ततिलका)

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता॥२३१॥

श्लोकार्थ :– सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि :– (**एवं**) पूर्वोक्त प्रकार से (**निःशेष कर्म फल संन्यसनात्**) समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से (**चैतन्य लक्ष्य आत्मतत्त्वं भृशम् भजतः सर्वक्रियान्तर–विहार–निवृत्त–वृत्तेः**) मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयतया भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया विभावरूप क्रिया, उसमें मेरी परिणति विहार प्रवृत्ति नहीं करती); (**अचलस्य मम्**) इसप्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे,(**इयम् काल–आवली**) यह काल की आवली जो कि (**अनन्ता**) प्रवाहरूप से अनन्त है, वह (**वहतु**) आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे; (उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाये)।

भावार्थ :– ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानो भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है।।२३१।।

कलश २३१ पर प्रवचन

ज्ञानी कहते हैं कि – भाई ! पर शरीर तो जड़ है, भगवान आत्मा

इससे भिन्न चेतन पदार्थ है। यह आत्मा मरने के बाद इस देह से भिन्न होता हो – ऐसा नहीं है। यह तो अभी जीवित अवस्था में ही, देह में रहते हुए भी देह से भिन्न है। तथा विकारी पर्याय में रहते हुए भी यह भगवान आत्मा विकार से भिन्न है। यद्यपि अज्ञानी ने स्वयं को विकारी माना है, किन्तु यह तो उसकी मिथ्याकल्पना है, भ्रम है। वस्तु ऐसी नहीं है।

भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि – तेरा चैतन्यतत्त्व अन्दर कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न है। विकारी भावों में एकाग्र होकर चेतने का नाम कर्मचेतना है। तथा उसमें हर्ष-शोक का होना कर्मफलचेतना है। दोनों ही दुःखदायक हैं। इन दोनों से भिन्न होकर भेदज्ञान करके अन्दर चिन्मात्र निजस्वरूप के आश्रय से जिसने ज्ञानचेतना प्रगट की है, वह ज्ञानी है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसका ज्ञानानन्द स्वभाव भी त्रिकाल है। ऐसे निजस्वभाव का भान करके अन्तर में एकाग्रता द्वारा आनन्दानुभूति करना ही ज्ञानचेतना है। देखो, इन्द्रियों के विषयों को आत्मा भोगता नहीं है; क्योंकि ये सब तो जड़-मिट्टी-धूल हैं। सुख का धाम तो निज ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा है। ऐसे निजस्वरूप के सन्मुख होकर उसकी शरण में जाने पर, उसी में एकाग्र होने पर ज्ञानचेतना प्रगट होती है। वह ज्ञानचेतना ही भव का अंत करनेवाली और परमानन्द को देनेवाली है, इसे ही धर्म कहते हैं। इसके सिवाय पर के लक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव तो चार गतियों में परिभ्रमण करानेवाले दुःख के भाव हैं। शुभभाव भी दुःखरूप भाव ही हैं।

कोई पाँच-पच्चीस लाख रुपये दान में देवे और उस समय राग की मन्दता हो तो उसे पुण्यबन्ध होता है। और यदि दान देते समय अन्दर में ऐसा मान का भाव हो जाय कि 'मैंने दान दिया' अतः मेरा सम्मान होना चाहिए आदि तो पाप बंध ही होता है। साधर्मी सम्मान करे, यह जुदी बात है; पर ज्ञानी धर्मात्मा दातार को कषाय की मन्दता में ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती। शुभभाव भी बन्ध का ही कारण है, धर्म नहीं – ऐसा वह भली-भाँति

जानता है।

यहाँ कहते हैं कि – जिसको ज्ञानचेतना प्रगट हुई है, वे ज्ञानी जानते हैं कि रागरूपी कर्म और उसका फल मेरी वस्त नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। इन शुभाशुभ भावों का और इनसे हुए हर्ष-शोक के भावों का त्याग कर मैं तो चैतन्य लक्षणस्वरूप निजतत्त्व को ही अतिशयपने अनुभव करता हूँ। जानना-देखना ही जिसका लक्षण है – ऐसे आनन्द के नाथ परमानन्द स्वरूप निज आत्मा का ही संचेतन करता हूँ, इसका ही अनुभव करता हूँ।

अरे! चौरासी लाख योनियों में अवतार धर-धर के जन्म-मरण किया। इस बीच अनन्तबार अरबपति सेठ श्रीमंत भी हुआ और अनन्तबार ही भिखारी-दीन-दरिद्री-रोगी और कीट-पतंगा भी हुआ। पशु पर्याय और नरक-निगोद में भी अनन्तबार गया। भाई! अपने जन्म-मरण और दुःख की क्या कथा करें ? कहाँ तक क्या-क्या कहें ? कहीं भी तो सुख-शान्ति नहीं मिली; क्योंकि जहाँ सुख था वहाँ तो कभी देखा नहीं, यदि एकबार भी अपने सुख के समुद्र भगवानस्वरूप आत्मा को देख लेता, जान लेता तो यह दुःख होता ही क्यों ?

अरे भाई! तू विचार तो सही कि तू कौन है ? ज्ञानी आचार्य कहते हैं कि अरे! तू तो चैतन्य जिसका लक्षण है – ऐसा आत्मतत्त्व है। तुझे जो धन कमाने और उसे भोगने का भाव होता है, यह पापतत्त्व है तथा दया-दान का भाव पुण्यतत्त्व है। और इससे भिन्न अन्दर चैतन्य का उपयोगस्वरूप आत्मतत्त्व है। बस, ज्ञानी उस चैतन्यलक्षण एक आत्मतत्त्व को ही अतिशय पने भोगतेहैं।

अरे! अज्ञानी जीव रात-दिन पुण्य-पाप के विकल्पों में ही उलझे रहते हैं, अपने आत्मकल्याण का थोड़ा भी ध्यान नहीं रखते, जरा-सी भी परवाह नहीं करते। इसकारण बहुत जीव तो बेचारे मरकर तिर्यंचगति में कीड़े-मकोड़े आदि की अत्यन्त हीन पर्याय में पहुँच कर अनन्त आकुलता को भोगते हैं। अपने स्वभाव के विरुद्ध भाव जो पुण्य-पाप हैं, उनमें अपने स्वरूप की मिथ्या कल्पना करके स्वरूप की आड़ करने से उन्हें पशुओं

का आड़ा शरीर मिलता है। तथा मांसाहारी, मदिरापान करनेवाले, शिकार खेलनेवाले हिंसक जीव नरक में जाते हैं। वहाँ वे जीव असह्य दुःख भोगते हैं। कुछ जीव दया, दान, व्रत-भक्ति आदि शुभभावों से मरण करके स्वर्ग में जाते हैं; किन्तु वहाँ भी वे मिथ्यादर्शन के कारण दुःखी ही रहते हैं। कुछ सरलता हो और पुण्य उत्पन्न करें तो मरकर मनुष्यपना प्राप्त करते हैं। इन चारों ही गतियों में जीव भ्रमण करते हुए दुःखी ही रहते हैं। उनके प्रति करुणा भाव से द्रवित होकर धर्मीपुरुष कहते हैं कि तुम तो इन सब पुण्य-पाप के भावों से रहित हो। सब जीवों के लिए एकमात्र यह आत्मा ही उपादेय है।

अहा ! जो धर्मी चैतन्यलक्षण से लक्षित निज शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं, वे ही सुखी हैं। धर्मीपुरुष की परिणति आत्मतत्त्व के उपभोग के सिवाय अन्य किसी भी विभाव क्रिया में विहार नहीं करती, प्रवर्तती नहीं है। धर्मी कहते हैं कि पुण्य-पाप के विकारी भाव मेरी स्वभाव क्रिया से भिन्न हैं। उन दुःख के भावों में मेरी वृत्ति विहार नहीं करती। अतीन्द्रिय आनन्द के भोगने के सिवाय अन्य किसी भी क्रिया में मेरी वृत्ति विहार नहीं करती।

देखो, क्रिया के तीन प्रकार हैं –

१. शरीर-मन-वाणी की क्रिया, यह जड़ की क्रिया है। इसे तो आत्मा करता ही नहीं है।

२. पुण्य-पाप के भावरूप आत्मा की विभाव क्रिया है। यह आकुलता कारक होने से दुःखरूप ही है। ज्ञानी की वृत्ति इस क्रिया से निर्वृत्त हो चुकी है।

३. विभाव से भिन्न चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता के अभ्यासरूप स्वभाव की क्रिया। यह धर्म की क्रिया है और इसी का नाम चारित्र है।

परजीवों की दया पालना चारित्र नहीं है। पर की दया केवल स्थूल व्यवहार की बात है; क्योंकि पर को न कोई मार सकता है और न बचा ही सकता है। सभी जीव अपनी-अपनी आयु से ही जीवित रहते हैं और आयु पूर्ण होने पर मरण निश्चित ही है। मरते हुये को कोई बचा नहीं सकता

और जिसकी आयु शेष है, उसे कोई मार नहीं सकता।

भाई! तू अर्थात् तेरे आत्मा का स्वरूप जितना व जैसा है, उसे वैसा ही मानकर उसी में स्थिर हो जा। बस यही सच्ची स्व-दया है।

यद्यपि मुनिराजों को भी पर की दया का भाव आता है, परन्तु वह भाव पुण्य है, धर्म नहीं, वास्तविक दया भी नहीं।

कलश २३१ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यह अन्तर रमण करने की – चारित्र की बात है। सम्यग्दर्शन के बाद जिसको अंतरंग में स्वरूप में रमण करने की स्थिरता हो गई है, वह ऐसा पूर्ण तृप्त हो जाता है कि मानो वह साक्षात् केवली ही हो गया है। अब उसे स्वरूप में से बाहर निकलना पुसाता ही नहीं है, स्वरूप से बाहर आना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। वह अनन्तकाल स्वरूप में ही रहना चाहता ह ।

प ण्डित ज यचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि यह बात योग्य ही है; क्योंकि ऐसी भावना से ही केवली होते हैं। व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्प से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। स्व-स्वरूप का अनुभव, फिर उसी का अभ्यास और फिर स्वरूप रमणता की ही जमावट-स्थिरता। बस, यही एक उपाय है केवलज्ञान प्राप्त करने का।

बाह्य व्यवहारचारित्र भी इस केवलज्ञान प्राप्त करने के साधनरूप ही है। जिनको अन्तरंग में स्वरूप की रमणतारूप साधन प्रगट हुआ है, उसको सहचररूप से जो रागांश विद्यमान होता है, उसे ही व्यवहार से साधन कहते हैं। मोक्ष का यथार्थ साधन तो स्वरूप रमणता ही है, परन्तु रागांश को उसका सहचर या निमित्त जानकर उसे भी व्यवहार से साधन कहा जाता है। वास्तविक साधन बिना व्यवहारचारित्र कुछ भी नहीं है। वह अकेला बाह्यसाधन केवल शुभकर्म को ही बांधता है। अन्तरंग में शुद्धस्वरूप के आश्रय से स्वानुभव और स्वरूपलीनता हुए बिना व्रत-तप आदि जो रागरूप परिणाम हैं, वे पुण्यबन्ध के ही कारण होते हैं, वे भवबंध के ही कारण होते हैं। वे कोई मोक्ष के उपाय नहीं हैं।

अहा! अपने स्वरूप के भान बिना भले कोई राज्य छोड़े, रानियों का त्याग कर दे, पाँच महाव्रतों का पालन करे; परन्तु ये सब क्रियायें बन्ध की ही कारण है, संसार की ही कारण होतीं हैं। वीतरागस्वभावी आत्मा में लीनता होने पर ही चारित्र प्रगट होता है।

अब पुनः काव्य कहते हैं :–

(वसन्ततिलका)

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्तेफलानिनखलुस्वतएवतृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः॥२३२॥

श्लोकार्थ :– (**पूर्व भाव कृत कर्म विषद्रुमाणां फलानि यः न भुंक्त**) पहले अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और (**खलु स्वतः एव तृप्तः**) वास्तव में अपने से ही (आत्मस्वरूप से ही) तृप्त है, (**सः आपात–काल–रमणीयम् उदर्क–रम्यम् निष्कर्म–शर्ममयम् दशान्तरम् एति**)वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है और भविष्यकाल में भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशांतर को प्राप्त होता है अर्थात् जो पहले संसार अवस्था में कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकार की कर्मरहित स्वाधीन सुखमय दशा को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है। उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है – अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्य में केवल ज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित मोर्क्ष-अवस्था को प्राप्त होता है।।२३२।।

कलश २३२ पर प्रवचन

भगवान आत्मा तो अमृत का वृक्ष है और कर्मों का फल विषवृक्ष का फल है। दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। अमृतस्वरूप आत्मा का अवलम्बन

लेने से परिणति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमृत के फल पकते हैं, परन्तु अज्ञान दशा में जो कर्म बाँधे गये, उनके फल में विषवृक्ष के फल ही प्राप्त होते हैं। उन कर्मों के फलरूप में भले साता का उदय आवे या असाता का उदय आवे – वे सब विषवृक्ष के ही फल हैं।

यहाँ धर्मी पुरुष कहते हैं कि – अन्तरंग में, निश्चल चारित्र भाव को प्राप्त मैं उन शुभाशुभ कर्मों के फलों को नहीं भोगता हूँ। भले तीर्थंकर प्रकृति का उदय आवे वह भी मेरे लिए तो विषवृक्ष का फल ही है।

समयसार की दूसरी गाथा में **'जीवो चरितदंसणणाणठिदो'** – ऐसा कहा है न ? वहाँ जीवो शब्द में से जीवत्वशक्ति निकाली है, जो कि ४७ शक्तियों में पहली शक्ति है। वहाँ कहा है कि – निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो स्थित हुआ, उसी का जीवन जीवन है और उसे ही जीव कहा है। शेष जो राग-द्वेष-मोह के भाव में रमते हैं, उन्हें जीव कैसे कहें ? वे तो अनात्मा हैं। उन्हें व्यवहार आत्मा कहा, जिसका अर्थ ही यह है कि निश्चय से वे अनात्मा हैं।

यहाँ कहते हैं कि – ज्ञानी कर्मरूपी विषवृक्ष के फल को नहीं भोगता; क्योंकि ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता। ७३ वीं गाथा में कहा है कि पुण्य-पाप के भावों का स्वामी पुद्गल द्रव्य है, आत्मा नहीं। भाई ! दृष्टि और दृष्टि के विषय में विकार की वृत्ति नहीं है, इसलिए उन विकारी भावों का स्वामी जड़ पुद्गल-कर्म है।

प्रश्न :– प्रवचनसार के अन्त में तो ऐसा आता है कि – मेरे विकारी और अविकारी जितने भी धर्म हैं, मैं उनका अधिष्ठाता हूँ। मेरे अनंत धर्मों का मैं स्वामी हूँ ?

समाधान :– भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से बात की हो, उसे उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिए। वहाँ यह कहा है कि – पर्याय में जो विकार होता है, वह परद्रव्य के कारण नहीं होता; किन्तु वह अपनी पर्यायगत योग्यता से ही होता है। समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में भी कहा है कि – जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, वह आत्मा है तथा जो

पुण्य-पाप का विकल्प होता है, वह भी आत्मा है। यहाँ भी यही बताना अभीष्ट है कि पुण्य-पाप के भावों की उत्पत्ति आत्मा में ही होती है, पर में नहीं तथा परद्रव्य उनका कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य से स्वयं को भिन्न सिद्ध किया है। भाई ! द्रव्य-पर्याय, भेद-अभेद आदि सभी पक्षों का स्याद्वाद से यथार्थ निर्णय करना चाहिए। जब दृष्टि और दृष्टि के विषय की बात चलती हो तब ऐसा कहते हैं कि – समकिती के आस्रव-बंध नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि – समकिती को मिथ्यात्व एवं अनन्तानु-बंधी सम्बन्धी आस्रव-बंध नहीं है तथा मंदराग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि उसको पर्याय में सर्वथा आस्रव-बंध है ही नहीं। जबतक यथाख्यात चारित्र प्रगट न हो, तबतक यथासंभव ज्ञानी के आस्रव-बंध है।

ज्ञानी कहते हैं कि – 'मैं तो त्रिकालशुद्ध एक चैतन्यमात्र प्रभु आत्मा हूँ।' ज्ञानानन्दस्वभाव मेरा स्वरूप है। राग मेरा स्वरूप नहीं है, इसकारण मैं राग का स्वामी नहीं हूँ। यद्यपि ज्ञानी के राग है; परन्तु वह राग का स्वामी नहीं है। ज्ञानी तो निजज्ञानानन्द स्वभाव में लीन है और निजस्वरूप से ही तृप्त है। जो कर्मफल को नहीं भोगता, ऐसा ज्ञानी वस्तुतः अपने स्वरूप से ही तृप्त है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर ज्ञानानन्दस्वभाव प्रभु है। आत्मा में अनन्तगुण एवं पर्यायों के अनन्त पहलू हैं। 'विकारी-अविकारी पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहते हैं।' – ऐसा उल्लेख मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें एवं नवें अधिकार में आया है। अहा ! अशुद्ध पर्यायें भी द्रव्य में हैं। वे द्रव्य की अवस्थायें हैं। पूर्व पर्याय में अशुद्धता थी तथा वर्तमान में भी अशुद्धता है – ऐसा जो नहीं मानता, उस निश्चयाभासी को लक्ष्य करके ही यह कहा है कि – 'शुद्धाशुद्धपर्यायों का पिण्ड ही द्रव्य है।' अहा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में स्याद्वाद शैली से तत्त्व का स्वरूप, द्रव्यपर्याय की शुद्धता-अशुद्धता जैसी जिस रीति से है, उसे उस रीति से अत्यन्त स्पष्ट किया गया है। अहो ! समकिती जीव का ज्ञान-श्रद्धान यथातथ्य होता है। वहाँ रहस्यपूर्ण चिट्ठी

में कहा है कि – तिर्यंच जीव का समकित और सिद्धजीव का समकित समान है। दोनों समकितों में कोई फर्क नहीं है, स्थिरता में फर्क पड़ता है।

यहाँ कहते हैं कि – चारित्रवान धर्मीपुरुष अपने स्वरूप से ही तृप्त है, उसकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का महासागर उछलता है। जो किंचित् राग रहता है, उसे वह मात्र जानता है अर्थात् उसका ज्ञाता-दृष्टा बनकर रह जाता है। अहा! निज निर्मल ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभवी ज्ञानी पूर्व कर्मों के फल में जुड़ता नहीं है। स्थिरता को प्राप्त स्वरूपाचरण में रमते हुए मुनिवरों को वर्तमान में रमणीय सुख का अनुभव वर्तता है, और भविष्य में उसके फल में रमणीय निष्कर्म पूर्ण सुखमय दशा रहती है। ऐसे सुखमय चारित्र को अज्ञानीजन कष्टदायक मानते हैं। न केवल मानते हैं, यह कहते भी सुना जाता है कि चारित्र का धारण करना लोहे के चने चबाने जैसा कष्टप्रद एवं कठिन काम है। अरे भाई! ऐसे लोगों को चारित्र के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं है।

देखो तो सही, मुनिपद अंगीकार करनेवाला दीक्षार्थी जब माता के पास आज्ञा मांगने जाता है, तब ऐसा कहता है कि – हे माता ! मैं आनन्द को साधने के लिए वनवासी बनकर मुनिपद धारण करता हूँ। हे माँ! मुझे आज्ञा दे! मैं वचन देता हूँ कि – मैं स्वरूप की रमणता में स्थिर होकर परमसुख की सिद्धि को प्राप्त करूँगा। अब मैं पुनः किसी को माँ नहीं बनाऊँगा। मैं तो इसी भव से मुक्ति प्राप्त करूँगा। अब किसी की भी कोंख में जाकर पुनः जन्म नहीं लूँगा। भाई ! चारित्र तो ऐसे परमसुख का देनेवाला है।

बापू ! चारित्र कोई अलौकिक वस्तु है। अतीन्द्रिय आनन्द में रमण करने का नाम चारित्र है। स्वरूप की रमणता ही उग्र तप है।

बाहर में अन्नादि के त्याग का नाम वास्तविक तप नहीं है; जहाँ स्वरूप की रमणता का उग्र पुरुषार्थ करते हैं, वहाँ इच्छा का निरोध सहज ही हो जाता है। बस इसे ही यथार्थ तप संज्ञा है। जिसमें प्रचुर आनन्द का वेदन है, ऐसी स्वरूपलीनता ही चारित्र है और वह आनन्द की धारा बढ़ती हुई

मुक्तिरूप पूर्णानन्द की दशा हो जाती है। अहा! एक छोटे से श्लोक में कितना सार भर दिया है। पूरा दिव्यध्वनि का सार ही मानो भरा है।

कलश २३२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, राग में एकाग्र होना कर्मचेतना है और हर्ष-शोक में एकाग्र होना कर्मफलचेतना है। इन दोनों से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वभावी चिन्मात्रवस्तु भगवान आत्मा में एकाग्र होना ज्ञानचेतना है। उस ज्ञानचेतना का फल यह है कि उसकी भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है। उसके जीवन में अन्य कोई तृष्णा नहीं रहती। भाई! छठवें गुणस्थान में जो महाव्रत के विकल्प होते हैं, वे जगपन्थ हैं।

प्रश्न :– चौथे गुणस्थान में तो अविरत सम्यग्दृष्टि को आस्रव-बन्ध नहीं और छठवें गुणस्थान में व्रतादि के विकल्प जगपन्थ हैं? यह बात कुछ समझ में नहीं आई। यह कैसा अध्यात्म है?

उत्तर :– भाई! चौथे गुणस्थान में जो आस्रव-बंध न होने की बात कही है, वह तो मिथ्यात्व एव अनन्तानुबन्धी के अभाव की अपेक्षा से कही है तथा छठवें गुणस्थान में जो महाव्रत के विकल्प आते हैं, व प्रमाद हैं। इस अपेक्षा इसे जगप न्थ कहा है। मुनिराज को अन्तरंग में जितनी निर्मलता प्रगट हुई है, वह तो मोक्षमार्ग ही है, जितना रागांश है, उसे जगपन्थ कहा है।

आत्मा के स्वरूप में एकाग्रता रूप ज्ञानचेतना सुखमय है, आनन्दमय है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादवाली उस ज्ञानचेतना द्वारा जीव ऐसा तृप्त रहता है कि उसे दूसरी कोई तृष्णा नहीं रहती।

देखो, पंचमकाल के मुनिराज यह कहते हैं कि यह देह छूटने पर हम स्वर्ग जायेंगे, किन्तु हमें उसकी भी तृष्णा नहीं है। हमें तो हमारे स्वरूप में अति तृप्ति है। हमको भवसुख की तृष्णा नहीं है। अहो! ऐसे मुनिवर स्वरूप में उग्रता से, तल्लीनतापूर्वक स्वरूप में प्रवर्तन करके केवलज्ञान प्राप्त करके कर्मरहित हो स्वाधीन सुखमय परम उत्कृष्ट वीतराग दशा को प्राप्त करते हैं।

देखो, यह नहीं कहा कि मुनिराज महाव्रतादि का पालन करके मोक्ष प्राप्त करते हैं; बल्कि यह कहा कि महाव्रतादि का उल्लंघन करके स्वरूप में तृप्त होकर स्वरूप में ही स्थित होकर परमानन्द दशा को प्राप्त करते हैं। यह वस्तुस्थिति है। ◆

'पूर्वोक्त रीति से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना करके अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभाव को पूर्ण करके, ज्ञानचेतना को नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो' – अब इस उपदेश का दर्शक काव्य कहते हैं –

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदंनाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥२३३॥

श्लोकार्थ :– (**अविरतं कर्मणः तत्फलात् च विरतिम् अत्यन्तं भावयित्वा**) ज्ञानीजन, अविरतपने से कर्म से और कर्मफल से विरति को अत्यन्त भाकर, ख अर्थात् कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्ति भाव को निरन्तर भाकर, (**अखिल–अज्ञान संचेतनायाः प्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा**) (इस भांति) समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर (**स्व–रस–परिगतं–स्वभावं पूर्णं कृत्वा**) निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके, (**स्वां ज्ञानसंचेतनां सानन्दं नाटयन्तः इतः सर्व–कालं प्रशमरसम् पिबन्त**) अपनी ज्ञानचेतना को पिओ अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिकरस को, अमृतरस को अभी से लेकर अनन्तकाल तक पिओ। इसप्रकार ज्ञानीजनों को प्रेरणा की है।

भावार्थ :– पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी कर्म के कर्तृत्वरूप कर्मचेतना के त्याग की भावना (४९ भंगपूर्वक) कराई और फिर १४८ कर्म प्रकृतियों के उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई। इसप्रकार अज्ञानचेतना

का प्रलय कराकर ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव की अनुभवरूप है। ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।।२३३।।

कलश २३३ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में कहते हैं कि – इसप्रकार ज्ञानीजन समस्त अज्ञानचेतना के नाश की भावना को स्पष्टरूप से भाकर निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए सदाकाल प्रशमरस का पान करते हैं – वीतराग रस का पान करते हैं। अरे! विकल्प का रस तो जहर का प्याला है।

आचार्यदेव की ज्ञानीजनों को यह प्रेरणा है कि – तुम अज्ञानचेतना का नाशकर सहज निजस्वभाव, ज्ञानानन्दस्वभाव का पूर्ण आलम्बन द्वारा अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुये सदाकाल चैतन्यरस को – अमृतरस को अनन्तकाल तक पिओ।

यहाँ भावार्थ में कहते हैं कि – पूर्व में जो पुण्य-पाप के भाव हुए थे, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, वह सब कर्मचेतना है। उसका मन-वचन-काय से, कृत-कारित-अनुमोदना आदि ४९ भंगपूर्वक त्याग कराया। कर्मचेतना व कर्मफलचेतना दुःख की दशा है तथा ज्ञानचेतना आनन्दरूप दशा है, भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसके आश्रय से प्रगट हुई ज्ञानचेतना जागृत दशा है। वह ज्ञानचेतना प्रगट होने पर अज्ञानचेतना का विलय हो जाता है। यहाँ कहते हैं कि – इस रीति से अज्ञानचेतना का प्रलय कराने के लिए ज्ञानचेतना रूप सदा प्रवर्तो।

मूलतः शुभ-अशुभ भाव आत्मा का कोई निजस्वरूप ही नहीं है। यह तो विभाव भाव है, विरुद्ध भाव है और विभ्रम इसका मूल है। शुभ-अशुभ भाव का परद्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है, परद्रव्य इनका कर्त्ता नहीं है। भ्रमणा ही विकारी भावों की उत्पत्ति का मूल है। इसी से पुण्य-पाप के भावों की उत्पत्ति है। भ्रमणा मिटते ही विकारी भाव उत्पन्न नहीं होते। फिर तो वे ज्ञान के मात्र ज्ञेय बनकर रह जाते हैं। पर्यायदृष्टि की भ्रमणा छोड़कर

द्रव्यदृष्टि होते ही पुण्य-पाप के भावों से भेदज्ञान हो जाता है। तत्पश्चात् विशेष स्थिरता होने पर चारित्र होता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

देखो, भगवान आत्मा अनन्त गुण-मणियों की खान है, चैतन्य रत्नाकर प्रभु है। उसमें अनन्त गुण एवं शक्तियाँ हैं, किन्तु विकार को उत्पन्न करने की कोई शक्ति नहीं है। अहाहा—! वस्तु के स्वभाव में शुभाशुभ भाव उत्पन्न हों – ऐसी कोई शक्ति नहीं है।

प्रश्न :– राग-द्वेष उत्पन्न होते तो हैं न ?

उत्तर :– हाँ, पर्यायबुद्धि से, भ्रमणा से राग-द्वेष होते हैं। अपने त्रिकाली शुद्ध एक चैतन्य स्वरूप का अज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान नहीं है, बस, इसी भ्रमणा से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

अहाहा—! भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु तीनलाक का नाथ है। इसकी एक समय की पर्याय में तीनकाल और तीनलोक जानने की सामर्थ्य है। इसकी एक समय की पर्याय में स्व-पर सहित अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप पूरे लोकालोक को जानने की शक्ति है। ऐसी सामर्थ्यवान अपनी पर्याय की जिसे खबर नहीं है, वह पर्यायवान निजद्रव्य की अनन्त सामर्थ्य को क्या जाने ? अहा—! एक समय की वर्तमान पर्याय के पीछे अन्दर में असीम स्वभाव से भरा त्रिकाली सत्त्व पड़ा है। उस त्रिकाली सत् की जिसने दृष्टि की, उसे द्रव्यदृष्टि हुई है। उसे मिथ्यात्व की भ्रमणा नहीं रही, वह समकिती है। उसे पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न नहीं होते। उसकी ज्ञानचेतना में समस्त अज्ञानचेतना का अभाव हो गया है।

संवर अधिकार में तो ऐसा आया है कि – विकार की उत्पत्ति का और त्रिकाली ध्रुव का – दोनों का क्षेत्र भिन्न है, दोनों का काल भिन्न है, दोनों का स्वभाव भिन्न है। अरे भाई ! तेरे बड़प्पन की क्या बात करें ? भगवान सर्वज्ञदेव भी अपनी वाणी से तेरी महानता की बात पूरी तरह से नहीं कह पाते। कहा भी है –

जो स्वरूप देखा सर्वज्ञ ने ज्ञान में,
कह सके नहिं वो भी उस के पूर्ण स्वरूप को।

बापू! यह तो अन्तर स्वरूपोपलब्धि की बात है, जो मात्र स्वानुभव से ही प्राप्त होती है।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिये ज्ञान को कर्तृत्वभोक्तृत्व से भिन्न बताया; अब आगे की गाथाओं में अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को भिन्न बतायेंगे।

अब पहले आगामी गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद्–
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्–
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते।।२३४।।

श्लोकार्थ :– (**इतः इह**) यहाँ से अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आगे की गाथाओं में यह कहते ह कि–) (**समस्त–वस्तु–व्यतिरेक– निश्चयात विवेचितं ज्ञानम**) समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, (**पदार्थ–प्रथन–अवगुण्ठनात कृतेः विना**) पदार्थ के विस्तार के साथ गुथित होने से (अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण; एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकार की) क्रिया उनसे रहित (**एकम् अनाकुलं ज्वलत**) एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान होता हुआ, (**अवतिष्ठते**) निश्चल रहता है।

भावार्थ :– आगामी गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व वस्तुओं से भिन्न बतलाते हैं।।२३४।।

कलश २३४ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि – पदार्थों से भिन्न हुआ ज्ञान अनेक प्रकार की विभाव की क्रिया स रहित है और ज्ञान क्रिया से सहित है। यहाँ जगत ऐसे आरोप लगाता है कि – इन्होंने क्रिया का लोप कर दिया। परन्तु भाई!

जरा सोचो तो सही ! किस क्रिया के लोप की बात कही जा रही है ? विभावक्रिया के लोप की बात ही है न ! स्वभावक्रिया, ज्ञानक्रिया तो है ही। स्वरूप में एकाग्र होने पर उत्पन्न हुई अनाकुलरूप ज्ञानक्रिया तो देदीप्यमान वर्तती ही है। यह साधक दशा है, इसमें राग का करना व भोगना दुःखरूप है। इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर अनन्तगुण रत्नाकर प्रभु जो अविचलरूप से अन्दर में विराजता है, वहाँ जाओ, उसका आश्रय लो। वही तुम्हारा स्व-देश है।

अब इसो अर्थ को आगामी गाथाओं में कहेंगे। ◆

ज्ञान की विनय

जैनधर्म के चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगों का प्रचार करे।

प्रथमानुयोग में तीर्थंकरादि महान धर्मात्माओं के जीवन की कथा, चरणानुयोग में उनके आचरण का वर्णन, करणानुयोग में गुणस्थान आदि का वर्णन और द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का वर्णन – इन चार प्रकार के शास्त्रों में वीतरागता का तात्पर्य है। इन शास्त्रों का बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करें।

जवाहरात के गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदि को कैसे प्रेम से घर में सम्हालकर रखते हैं, इसकी अपेक्षा विशेष प्रेम से शास्त्रों को घर में विराजमान करे और सजा करके उनका बहुमान करे – यह सब ज्ञान का ही विनय है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी : श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ ५९–६०

समयसार गाथा ३९०–४०४

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति।।३९०।।
सद्दा णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति।।३९२।।

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्र न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवन्ति।।३९०।।
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्द जिना ब्रुवन्ति।।३९१।।
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति।।३९२।।

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभू कहे।।३९०।।
रे! शब्द है नहि ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभू कहे।।३९१।।
रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे।।३९२।।

गाथार्थः– (शास्त्रं) शास्त्र (ज्ञानं न भवति) ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (शास्त्रं किंचित् न जानाति) शास्त्र कुछ जानता नहीं है (वह जड़ है), (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (शास्त्रं अन्यत्) शास्त्र अन्य है– (जिनाः ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(शब्दः ज्ञान न भवति) शब्द ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (शब्दः

वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधा ण याणद किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।।३९४।।

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति।।३९३।।
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद् गन्धो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंध जिना ब्रुवन्ति।।३९४।।

किंचित् न जानाति) शब्द कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानं अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (शब्दं अन्यं) शब्द अन्य है– (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहतेहैं।

(रूपं ज्ञानं न भवति) रूप ज्ञान नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (रूपं किंचित् न जानाति) रूप कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत) ज्ञान अन्य है, (रूपं अन्यत्) रूप अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहे।।३९३।।
रे! गंध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे।।३९४।।

(वर्ण: ज्ञानं न भवति) वर्ण ज्ञान नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (वर्ण: किंचित् न जानाति) वण कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (वर्णं अन्यं) वर्ण अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(गंध: ज्ञानं न भवति) गंध ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (गंध: किंचित् न जानाति) गंध कुछ जानती नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (गंधं अन्यं) गंध अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति।।३९५।।
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्ण णाण अण्णं फास जिणा बेंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति।।३९७।।

न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्य रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति।।३९५।।
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति।।३९६।।
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात् कर्म न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति।।३९७।।

रे! रस है नहिं ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु रस अन्य जिनवर कहे।।३९५।।
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहे।।३९६।।
रे! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहे।।३९७।।

(रसः तु ज्ञानं न भवति) रस ज्ञान नहीं है, (यस्मात् तु) क्योंकि (रसः किंचित् न जानाति) रस कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानं अन्यत्) ज्ञान अन्य है (रसं च अन्य) और रस अन्य है– (जिनाः ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(स्पर्शः ज्ञानं न भवति) स्पर्श ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (स्पर्शः किंचित् न जानाति) स्पर्श कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (स्पर्शं अन्यं) स्पर्श अन्य है – (जिनाः ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति।।३९९।।
काला णाण ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।।४००।।

धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९८।।
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९९।
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति।।४००।।

(कर्म ज्ञानं न भवति) कर्म ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (कर्म किंचित् न जानाति) कर्म कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (कर्म अन्यत्) कर्म अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रे! धर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य जिनवर कहे।।३९८।।
नहीं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे हैं ज्ञान अन्य अधर्म अन्य जिनवर कहे।।३९९।।
रे! काल ह नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से ज्ञान अन्य काल अन्य प्रभू कहे।।४००।।

(धर्म: ज्ञानं न भवति) धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (धर्म: किंचित् न जानाति) धर्म कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (धर्मं अन्यं) धर्म अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।

आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित्।
तस्मादकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति।।४०१।।
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतन यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत्।।४०२।।

(अधर्म: ज्ञानं न भवति) अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (अधर्म: किंचित् न जानाति) अधर्म कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (अधर्मं अन्यम्) अधर्म अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(काल: ज्ञानं न भवति) काल ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (काल: किंचित् न जानाति) काल कुछ जानता नहीं है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानम् अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (कालं अन्यं) काल अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे ज्ञान आकाश अन्य रु अन्य प्रभू कहे।।४०१।।
रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है।।४०२।।

(आकाशम् अपि ज्ञानं न) आकाश भी ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (आकाशं किंचित् न जानाति) आकाश कुछ जानता नही है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानं अन्यत्) ज्ञान अन्य है, (आकाशम् अन्यत्) आकाश अन्य है – (जिना: ब्रुवन्ति) ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(अध्यवसानं ज्ञानम् न) अध्यवसान ज्ञान नहीं है, (यस्मात्) क्योंकि (अध्यवसानम् अचेतनं) अध्यवसान अचेतन है, (तस्मात्) इसलिये

जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो द जाणगा णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्।।४०३।।
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः।।४०४।।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो-मचेतनत्वात्, ततोज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो

(ज्ञानम् अन्यत) ज्ञान अन्य है (तथा अध्यवसानं अन्यत्) तथा अध्यवसान अन्य है (ऐसा जिनदेव कहते हैं)।

रे! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायकस अव्यतिरिक्त यो ज्ञातव्य है।।४०३।।
सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञानको।।४०४।।

(यस्मात्) क्योंकि (नित्यं जानाति) (जीव) निरन्तर जानता है, (तस्मात्) इसलिये (ज्ञायकः जीवः तु) ज्ञायक ऐसा जीव (ज्ञानी) ज्ञानी (ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, (ज्ञानं च) और ज्ञान (ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं) ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त है – ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) (ज्ञातव्यम्) ऐसा जानना चाहिए।

(बुधाः) बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानीजन) (ज्ञानं) ज्ञानको ही (सम्यग्दृष्टि तु) सम्यग्दृष्टि, (संयम) (ज्ञानको ही) संयम, (अंगपूर्वगतम् सूत्रम) अंगपूर्वगत सूत्र, (धमाधर्मं च) और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) (तथा प्रव्रज्याम्) तथा दीक्षा (अभ्युपयांति) मानते हैं।

टीका :– श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि

ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात, ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधमो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, तता ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको

श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और श्रुतके व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और शब्दके व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रूपके व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं)। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और वर्णके व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है)। गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और गंध के व्यतिरेक (भेद, भिन्नता) है। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रसके व्यतिरेक है। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और स्पर्शके व्यतिरेक है। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कर्म के व्यतिरेक है। धर्म (धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और धर्मके व्यतिरेक है। अधर्म (—अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और अधर्मके व्यतिरेक है। काल (—कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है;

निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं, चेतनत्वात्; ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः। न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः।एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टि :, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्ण-विज्ञानघनस्वभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम्।

इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेक है।आकाश (आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और आकाशके व्यतिरेक है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और (कर्मोदयकी प्रवृत्तिरूप) अध्यवसानके व्यतिरेक है। इसप्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चय साधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चयसे सिद्ध हुआ समझना – अनुभव करना चाहिए)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिये ज्ञानके और जीवके अव्यतिरेक (–अभेद) है।और ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक किंचित्मात्र भी शंका करने योग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञानकी जीवसे भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शंका करने योग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीवसे अभिन्न) होनेसे, ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (–दीक्षा, निश्चयचारित्र) है – इसप्रकार

ज्ञानका जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना – अनुभव करना) चाहिए।

अब, इसप्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है ऐसा त्याग-ग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (–निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना) चाहिए।

भावार्थ :– यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया है, इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये। आत्मा का लक्षण उपयोग है, और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिये वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओं में है इसलिए अव्याप्तिवाला नहीं है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञान लक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें से कितने ही तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों के कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहिचान सकता है ? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमें से कितने ही – अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं, इसलिये उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुये हैं उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता

ह ? इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षा में गुणगुणी का अभेद होने से, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षा में चाहे ज्ञान कहो या आत्मा – कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।

टीका के अन्त में यह कहा गया है कि – अपने में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है उसे, जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है – ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल, शुद्ध, पूण ज्ञान को (पूर्ण आत्मदव्य को) देखना चाहिए। यहाँ 'देखना' तीन पकार का है – शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकार का देखना है। वह अविरत आदि अवस्था में भी होता है। दूसरा – ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (–पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, यह दूसरे प्रकारका देखना है। इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है। जहाँ तक उस प्रकार के अभ्याससे केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रय से परोक्ष देखना है और तीसरा – जब केवलज्ञान होता है तब साक्षात् देखना है। उसी स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-दृष्टा है, इसलिए यह तीसरे प्रकारका देखना पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है।

गाथा ३९० से ४०४ तक प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि – द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, भगवान की वाणी ज्ञान नहीं है, आत्मा नहीं है; क्योंकि वह अचेतन है।

प्रश्न :– धवला में तो ऐसा कहा है कि 'भगवान की वाणी में भावश्रुत से उपदेश किया है, उसका क्या अर्थ है ?'

उत्तर :– हाँ, वाणी तो जड़ है, किन्तु वाणी के सुननेवाले वाणी को सुनकर अन्तर्मुख होकर भावश्रुतरूप से परिणमते है न ? बस, इसी कारण भगवान की वाणी में भावश्रुत से उपदेश दिया गया – ऐसा कहा जाता है। वाणी भावश्रुत नहीं है। वाणी में केवलज्ञान भी नहीं है। वाणी तो द्रव्यश्रुत है, अचेतन है।

द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है; क्योंकि द्रव्यश्रुत अचेतन है। इसलिए ज्ञान व श्रुत में भिन्नता है। द्रव्यश्रुत का ज्ञान परलक्षी ज्ञान है, स्वलक्षी नहीं। इसलिए भी द्रव्यश्रुत का ज्ञान वस्तुतः अचेतन है।

परमार्थवचनिका में आया है कि – जितना परसत्तावलम्बी ज्ञान है, उस ज्ञान को वास्तव में मोक्षमार्ग ही नहीं कहा। 'द्रव्यश्रुत के सुनने से आत्मज्ञान प्रगट होता है' – ऐसा नहीं है; किन्तु श्रुतविकल्प का भी लक्ष्य छूटकर अन्दर में प्रवाहित ज्ञानधारास्वरूप आत्मा के स्पर्श से जो ज्ञान प्रगट होता है, वह वास्तविक ज्ञान है। इसके सिवाय श्रुतज्ञान के ग्यारह अंग व नौ पूर्व भी पढ़ लें, तो भी ज्ञान नहीं होता।

देखो, आचारांग में १८ हजार पद हैं और एक-एक पद में इक्यावन करोड़ श्लोक हैं। उन सब का ज्ञान होना शब्दज्ञान है। अहा ! जो ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं है, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। पाँच-पचास हजार श्लोक कंठस्थ हो जाय, उससे क्या ? अन्दर विराजमान ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के स्पर्श बिना हुआ ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है। आचारांग आदि का ज्ञान, नव पदार्थों का श्रद्धान एवं छहकाय के जीवों की रक्षा का भाव चारित्र – ऐसा व्यवहारनय से भले कहा जाता हो; परन्तु जिसमें आत्मा का आश्रय न हो उस ज्ञान-श्रद्धान व चारित्र को निश्चय से चारित्र कहते ही नहीं हैं।

जो आत्मा के आश्रय से प्रगट हो, वही परमार्थ से ज्ञान-श्रद्धान एवं चारित्र है तथा वही मोक्षमार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि – शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, इसकारण ज्ञान व शब्द में व्यतिरेक है, भिन्नता है। भाई ! भगवान की जो ओंकारध्वनि निकलती है, वह भी ज्ञान नहीं है; वह अचेतन पुद्गल की पर्याय है।

धवला में जो ऐसा पाठ है कि – भगवान भावश्रुत से प्ररूपणा करते हैं, केवलज्ञान से नहीं। इसका तो यह तात्पर्य है कि – श्रोता स्वयं अपने अन्दर स्वरूप में लक्ष्य करते हैं; तब उन्हें भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है। उसमें भगवान की दिव्यध्वनि निमित्त है। बस, इसकारण उस दिव्यध्वनि को भावश्रुत से प्ररूपणा की – ऐसा कहा गया है। भगवान को तो केवलज्ञान है; किन्तु वाणी में भावश्रुत का भाव श्रोताओं को प्राप्त होता है। इसकारण भाव से प्ररूपणा की – ऐसा कहने में आया है।

वहाँ जो भी दिव्यध्वनि में निरक्षरी ध्वनि निकलती है; वह तो जड़ है। वह भावश्रुतरूप नहीं है। उस ऊँ ध्वनि से जो ज्ञान होता है वह भी जड़ है, अचेतन है। उसी समय जो ज्ञान अपने चैतन्यज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से प्रगट होता है, वह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। वह आत्मज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, भावश्रुतज्ञान है।

वर्ण,रस, गन्ध और स्पर्श – इन चारों के एकरूप को यहाँ रूप कहा है। यहाँ रूप का अर्थ रंग नहीं है। रंग की बात अलग से कहेंगे। यहाँ कहा है कि रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप पुद्गल की पर्याय है, अचेतन है इसलिए रूप और ज्ञान में भिन्नता है, व्यतिरेक है।

अब कहते हैं कि 'वर्ण' ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण पुद्गल द्रव्य का गुण है, अचेतन है। इसकारण ज्ञान में व वर्ण में व्यतिरेक है, ज्ञान अन्य है – वर्ण अन्य है।

भगवान के शरीर के रंग (वर्ण) की बात शास्त्रों में आती है। उस शरीर के रंग से ज्ञान नहीं होता। रंग तो निमित्त मात्र है। रंग के निमित्त से

जो ज्ञान होता है, वह भी वास्तविक ज्ञान नहीं है। स्वरूपवान चिद्रूप जो भगवान आत्मा अन्दर विराज रहा है, उसके आश्रय से जो ज्ञान होता है, वही यथार्थज्ञान है।

इसीप्रकार खट्टा-मीठा आदि रस और कोमल-कठोर आदि स्पर्श भी ज्ञान नहीं है। इनसे जो ज्ञान होता है, वह तो जड़ है। वह आत्मज्ञान नहीं है। आगे कहते हैं कि आठ कर्म ज्ञान नहीं हैं; क्योंकि कर्म अचेतन है। कर्म के लक्ष्य से हुआ ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। कर्मों का बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि कर्म संबंधी जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं है। कर्म सम्बन्धी ज्ञान भी स्वयं में स्वयं से होता है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है; परन्तु वह ज्ञान भी आत्मा का ज्ञान नहीं है। भगवान आत्मा अन्दर में अबद्धस्पृष्ट है। स्वरूप से आत्मा अकर्म-अस्पर्श है। ऐसे अकर्मस्वरूप आत्मप्रभु का अन्तःस्पर्श करनेवाले ज्ञान को ही ज्ञान कहा है।

प्रश्न :– आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ जड़ हैं। ये जीवों को परेशान, हैरान तो करती हैं न ?

उत्तर :– भाई ! तेरी यह मान्यता ही मिथ्या है, खोटी है। तू स्वयं विकार का सेवन करके दुःखी है, हैरान हो रहा है। कर्म तो बेचारे विकारी पर्याय का स्पर्श ही नहीं करते। कर्म हैं, कर्म सम्बन्धी ज्ञान भी जीवों को होता है; परन्तु वह ज्ञान आत्मा का ज्ञान नहीं है। कर्म अचेतन है, इसकारण कर्म जुदे हैं और ज्ञान जुदा है। आत्मा अपनी सत्ता से विराजमान है। कर्म अपनी सत्ता से है। दोनों में भिन्नता है। धर्म (धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म अचेतन है; इसकारण ज्ञान व धर्मद्रव्य में व्यतिरेक है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि नामक लोकव्यापी द्रव्य हैं। देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान ने देखे हैं। अन्यमत में तो यह धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों की बात ही नहीं है। केवली भगवान ने छहद्रव्य अस्तिपने से देखें हैं।

यहाँ कहते हैं कि – धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि ज्ञान नहीं हैं तथा 'धर्मास्तिकाय आदि हैं' – ऐसा जो ज्ञान में आता है, वह उन द्रव्यों का ज्ञान भी ज्ञान नहीं; क्योंकि धर्मास्तिकाय आदि में ज्ञान नहीं है। भगवान

आत्मा ज्ञानस्वभाव से भरपूर है, उसके आश्रय से जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सम्यग्ज्ञान है और वही ज्ञान मोक्ष का मार्ग है।

इसीप्रकार आकाश एवं कालद्रव्य के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अब कहते हैं कि – 'अध्यवसान' ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसकारण ज्ञान में व कर्म के उदय की प्रवृत्तिरूप अध्यवसान के व्यतिरेक है। राग में एकताबुद्धि अध्यवसान है। राग व आत्मा एक है – ऐसा भ्रम अध्यवसान है। वह अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है इसकारण कर्म के उदय की प्रवृत्तिरूप अध्यवसान व ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न :– देखो, यहाँ एक ओर जहाँ यह कहा है कि अध्यवसान अर्थात् पुण्य-पाप आदि आत्मा नहीं है, वहीं दूसरी ओर पुण्य-पाप को आत्मा कहा जाता है। यह परस्पर विरुद्ध कथन कैसा ?

उत्तर :– पुण्य-पाप जीव की ही पर्याय में होते हैं, इसकारण इन्हें आत्मा कहा जाता है और भेदज्ञान की दृष्टि से पुण्य-पाप का स्वामी पुद्गल द्रव्य है और ये जीव के स्वभाव नहीं हैं, पुद्गल कर्म के निमित्त से होते हैं; इसकारण इन्हें पुद्गल भी कहा जाता है। दोनों की अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं। पुण्य-पापरूप पर्याय की रुचि छुड़ाने और द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराने के प्रयोजन से यह कहा है, किन्तु इससे कोई ऐसा मानने लगे कि पुण्य-पाप का भाव पुद्गल में होता होगा तो उसका यह मानना भी भ्रम है।

देखो, अब कहते हैं कि – जीव ही ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान चेतन है और जीव भी अचेतन है। यहाँ ज्ञान और जीव की एकता में अभिन्नता बताई गई है। ज्ञान और जीव – इसप्रकार दो शब्दों की भिन्न-भिन्न ध्वनि उठती है इसकारण ऐसा भ्रम होता है कि ज्ञान व जीव दोनों जुदे-जुदे होंगे – लोग ऐसा समझते हैं; किन्तु ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। भगवान आत्मा भाववान और ज्ञानभाव – ऐसे भाव एवं भाववान को भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही समझना चाहिए; क्योंकि वस्तुपने एक ही है। नाम जुदे-जुदे दो हैं, पर वस्तु दो नहीं है। जीव और ज्ञान ऐसे दो नाम होने पर भी वस्तु

तादात्म्यरूप से एक ही है।

समयसार गाथा ६६-७० की टीका में आया है कि – 'जिसके साथ तादात्म्य सिद्ध सम्बन्ध है – ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (जुदा लक्षण) नहीं होने से उनमें भेद को (जुदापन को) न देखता हुआ वह ज्ञान में निशंक रीति से अपनेपने से प्रवर्तन करता है। और वहाँ (ज्ञान में अपनेपने से) वर्तता हुआ वह ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से निषेध नहीं किया गया है, इसकारण जानता है, जानने रूप प्रवर्तता है।

देखो, यहाँ पर यह जो कहा है कि निशंक रीति से ज्ञान में अपनेपने से प्रवर्तता है। इसका अर्थ ही यह है कि ज्ञान और आत्मा एक ही हैं और वही स्वभावभूत ज्ञानक्रिया अर्थात् सम्यग्ज्ञान की क्रिया है। यहाँ भी कहा है कि – 'जीव ही एक ज्ञान है अर्थात् जीव ही स्वयं ज्ञान है।

अब कहते हैं कि – ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। यहाँ प्रश्न है कि – जो सम्यग्दृष्टि है वह आत्मा है कि नहीं? उत्तर में कहा है कि – हाँ, आत्मा ही सम्यग्दृष्टि है; क्योंकि आत्मा से जुदा कोई सम्यग्दर्शन तो है नहीं। अहा—! आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु है। वह ज्ञान में ज्ञेय होने पर उसकी जो प्रतीति हुई कि 'यह मैं हूँ' बस, यही तो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूप है। सम्यग्दर्शन कोई जुदी वस्तु और आत्मा जुदा है – ऐसा नहीं है। इसलिए कहते हैं कि ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। यहाँ ज्ञान शब्द से अभेदरूप आत्मा ही कहा है। इसतरह यह स्पष्ट है कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई और सम्यग्दर्शन नहीं है, सम्यग्दृष्टि नहीं है।

अब कहते हैं कि – ज्ञान ही संयम है, ज्ञान अर्थात् आत्मा ही संयम है। पाँच इन्द्रियों के विषयों को त्यागना और मन को जीतना – ये तो नास्ति से संयम की बात है। अस्ति से तो ज्ञान अर्थात् आत्मा में ही रमने का नाम संयम है। और वह संयम आत्मा ही है। संयम ही, वीतरागी पर्याय रूप से आत्मा ही परिणमता है न? इसलिए आत्मा ही संयम है।

बाह्य व्यवहार के क्रियाकाण्ड – छहकाय के जीवों की रक्षा, पाँच

महाव्रत आदि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग परमार्थ रूप से संयम नहीं है, ये सब तो राग रूप है न ? जिसप्रकार देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा और सात तत्त्वों का भेदरूप ज्ञान-श्रद्धान वस्तुतः रागरूप होने से समकित नहीं है; उसीप्रकार छहकाय के जीवों की दया पालने का भाव शुभराग होने से संयम नहीं है। अंतर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वरूपी नित्यानन्दमय भगवान आत्मा में जमने-रमने का नाम ही वास्तविक संयम है। यही चारित्र है।

गाथा १५५ की टीका में आता है – 'सम्यग्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभाव रूप ज्ञान का होना – परिणमना है। इसीतरह जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमना ज्ञान है तथा रागादि के त्यागस्वभाव रूप ज्ञान का होना – परिणमना चारित्र है। इस रीति से यह फलित हुआ कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों एक ज्ञान का ही भवन, परिणमन है।' इसप्रकार संयम भी ज्ञान का भवन ही है। इसलिए ज्ञान ही संयम है, क्योंकि ज्ञान अर्थात् आत्मा से संयम कोई जुदी वस्तु नहीं है।

प्रश्न :– यह ठीक है; परन्तु इसके साधन रूप व्यवहार संयम भी तो होता है न ?

उत्तर :– साधन ? अरे साधन की क्या बात करते हो ? जिसको अन्दर में 'स्व–स्वरूप का भान हुआ हो, उसके बाह्य व्रत-तप-दया आदि रूप राग की मन्दता के विकल्प जो आते हैं, उन्हें ही व्यवहार से साधन कहते हैं, किन्तु मात्र उनसे ही साध्य की सिद्धि नहीं होती। सहकारी निमित्त जानकर उनपर आरोप करके उन्हें व्यवहार से साधन कहा है। वस्तुतः वे वास्तविक साधन नहीं हैं'।

देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन, संयम आदि पर्यायों को आत्मा कहा है, जबकि गाथा ११ में इन्हें व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। नियमसार की ३८ वीं गाथा में पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा, मोक्ष सहित जितनी पर्यायें हैं, उन सबको परद्रव्य कहकर हेय कहा है।

प्रश्न :– इन दोनों कथनों में कौनसा कथन सत्य है ?

उत्तर :– अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों ही कथन सत्य हैं। भाई ! अनेकान्त से सब सिद्ध होता है। नियमसार में जो सर्व पर्यायों को परद्रव्य कहकर हेय कहा और एक त्रिकाली ध्रुव शुद्धभाव को उपादेय कहा – उसका प्रयोजन और अपेक्षा यह है कि – यह जीव अनादि काल से पर्यायदृष्टि के कारण चौरासी लाख योनियों में भटकता रहा है, अतः इसे नाशवन्त पर्यायों का आश्रय छुड़ाकर त्रिकाली ध्रुव एक शुद्धभाव का आश्रय कराना था। अतः सर्वपर्यायों को परद्रव्य कहना इस अपेक्षा उचित ही है।

तथा समयसार की ११ वीं गाथा में भी पर्याय को असत्यार्थ कहा उसका अभिप्राय यह है कि – जीव पर्याय को गौण करके ध्रुवतत्त्व का आश्रय करे।

अतः समयसार गाथा ११ में ध्रुव एक त्रिकाली द्रव्य निश्चय और पर्याय व्यवहार – ऐसा कहा है। परन्तु यहाँ बात ही कुछ और है। यहाँ तो परद्रव्य से भिन्नता सिद्ध करना है; अतः यहाँ जिसकी जो पर्याय है, वह निश्चय से उसी की है, पर की नहीं – ऐसा अर्थ लेना है। इसलिए कहा है कि – ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है इत्यादि।

समयसार की ७१ वीं गाथा में – निश्चय से ज्ञान का होना-परिणमना आत्मा है – ऐसा कहा है और यहाँ पुण्य-पाप के भावों को भी आत्मा कहा है। यह तो त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा का अनेकान्त मार्ग है। उसे स्याद्वाद के द्वारा समझना चाहिए।

आत्मा का स्वयं अपने में स्थिर हो जाना, जम जाना ही संयम है, ज्ञान ही संयम है। यह देह की क्रिया और दया, दान, व्रत, तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्प संयम नहीं हैं। अहाहा––! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ निर्मलानन्द प्रभु स्वयं आत्मा है। वह आत्मा पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द की रमत में जम जाये, रम जाये – बस, यही संयम है। और जो संयम है, वह स्वयं आत्मा ही है।

ऐसे संयम के निश्चयपरक स्वरूप को सुनकर कोई कह सकता है

कि – यदि तुम व्यवहार साधन रूप संयम की बात ही नहीं करोगे और व्यवहार संयम को संयम ही नहीं मानोगे तो श्रावकपने और मुनिपने का तो अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा।

ऐसी आशंका करनेवालों से कहते हैं कि अरे भाई ! यदि तुझे व्यवहार साधन की अर्थात् राग की रुचि है, राग में धर्मबुद्धि व उपादेय बुद्धि है तो तुझे सच्चे श्रावकपने और मुनिपने की समझ ही कहाँ है ? तुझे तो मात्र राग में ही रुचि है, जबकि मोक्षमार्ग तो वीतरागस्वरूप है। श्रावकपना और मुनिपना भी यथासंभव वीतरागीदशा रूप ही है न ? व्रतादि का होना तो उन-उन अवस्थाओं का बाह्य व्यवहार है। उन्हें उपचार से साधन कहा है। धर्मीपुरुष उसे परमार्थ साधन नहीं मानते।

प्रश्न :– यहाँ कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव भी आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसकारण इन्हें भी आत्मा ही कहो न ?

उत्तर :– नहीं, क्योंकि ये तो भ्रम से उत्पन्न होनेवाले परिणाम हैं। जहाँ ऐसा कहा है, उसका तात्पर्य मात्र इतना है कि – पुण्य-पाप अपनी पर्याय में ही हुए हैं, अन्य में नहीं। बस, इतना ज्ञान कराना मात्र प्रयोजन है उस कथन का। इससे अधिक और कुछ अर्थ ग्रहण नहीं करना।

बारह अंग का ज्ञान मात्र शब्दों तक सीमित नहीं है, स्व के आश्रय से जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह भावश्रुतज्ञान अंगपूर्वरूप सूत्र है।

अब कहते हैं कि – ज्ञान ही धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप है। देखो, पुण्य-पाप आत्मा की पर्याय में होते हैं, मात्र इस अपेक्षा से इन्हें यहाँ आत्मा कहा है, किन्तु विभ्रम इनकी उत्पत्ति का मूल है। भले ये जीव की पर्याय में उत्पन्न हुये हैं, किन्तु ये परसत्तावलम्बी भाव होने से बन्धरूप ही हैं, बंध के कारण है।

प्रश्न :– जब ये परावलम्बी हैं और बंध के कारण हैं, फिर भी इन्हें आत्मा कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– भाई! यहाँ स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वकीय हैं, पर से भिन्न हैं, पर नहीं हैं – ऐसा सिद्ध करना है, इस कारण इस जीव की पर्याय में जो

शुभाशुभ भाव होते हैं, उन्हें यहाँ आत्मा कहा है। आत्मा की पर्याय भी आत्मा – इस शैली से यहाँ बात की है। इसीकारण सम्यग्दर्शन, संयम, अंगपूर्वसूत्र की निर्मल पर्याय और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) की विभावरूप मलिन पर्यायों को यहाँ आत्मा कहा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में शुद्धाशुद्ध पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहा है। अशुद्धता ने अंश मात्र भी अन्दर आत्मा में प्रवेश नहीं किया वहाँ तो अशुद्धता पारिणामिक भाव रूप हो जाती है। एक समय की क्षयोपशमभाव की पर्याय भी दूसरे समय में व्यय होकर अन्दर में पारिणामिक भावरूप हो जाती है। यदि अशुद्धता का सर्वथा नाश या अभाव माना जायेगा तो आत्मा त्रिकाली वस्तु है – यह बात ही सिद्ध नहीं होगी। साधक जीवों को भी असंख्य समय तक – सात-आठ भव तक पर्याय में अशुद्धता रहती है। इस अशुद्धता को यहाँ आत्मा कहा है।

अनादि-सान्त अशुद्धपर्यायों और सादि-अनन्त शुद्ध पर्यायों का समूह आत्मा है। यह तो सामान्यपने आत्मा का स्वरूप ही है।

जीव अनादि से शुभाशुभ भाव करता आया है, वे शुभाशुभ भाव अनादि-सान्त हैं। इतने लम्बे समय से अशुद्धता रही, यदि इसे माने ही नहीं तो गुण ही सिद्ध नहीं होगा और द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा। गुणों का अशुद्ध परिणमन होना भी उनकी अपनी तत्समय की योग्यता है। यदि इन सब अशुद्ध परिणमन को न माना जाय तो त्रिकाली गुण ही सिद्ध नहीं होंगे। तो फिर उन गुणों का समूह द्रव्य की सिद्धि कैसे होगी ?

अहो! प्रत्येक आत्मा अनन्त सामान्य और विशेष गुणों का समुद्र है। अस्तित्वादि जो छह गुण कहे, वे तो संक्षेप में समझाने के लिए कहे हैं; क्योंकि वाणी में सब गुण आते नहीं हैं। वस्तु में सामान्य और विशेष – ऐसे अनन्त गुण हैं। उनमें एक गुण में दूसरे अनन्त गुणों का रूप है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं है, किन्तु एक गुण में दूसरे अनन्त गुणों का रूप है। तत्त्वार्थसूत्र में यह तो स्पष्ट कहा है कि – 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः' – द्रव्य के आश्रय से गुण हैं, परन्तु गुण स्वयं निर्गुण है अर्थात् एक गुण में दूसरा गुण नहीं है। इसप्रकार ज्ञानगुण सहित अनन्त गुण अनादि अनन्त

जीवद्रव्य के आश्रित हैं, किन्तु ज्ञानगुण में अन्य कोई गुण नहीं है। यदि ज्ञानगुण में अन्य गुण रहें तो वह ज्ञानगुण गुणों का समुदाय होने से द्रव्य हो ज़ाये, जैसा कि द्रव्य का लक्षण है – 'गुण समुदायो द्रव्यं'। यहाँ कहते हैं कि – संसारी जीवों के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख आदि बहुत से गुण अनादि से अशुद्ध ही परिणमन कर रहे हैं। वह अशुद्धता तत्-तत् समय की जीव की स्वयं की योग्यता है जो कि अनादि–सान्त है। यदि कोई उस अशुद्धता को माने ही नहीं तो अनादि-अनन्त गुणों की सिद्धि ही नहीं हो और आत्मा (द्रव्य) की भी सिद्धि नहीं होगी। इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) है।

अव्यक्त के बोल में तो ऐसा आता है कि – केवलज्ञान की पर्याय द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करती। तथा प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के अन्तिम बोल में यह आता है कि – द्रव्य, गुण विशेष का आलिंगन नहीं करता। अभेदवस्तु भेद का आलिंगन नहीं करती। द्रव्य, पर्याय विशेष का आलिंगन नहीं करता। भाई ! वहाँ तो प्रयोजनवश पर्याय का अस्तित्व और द्रव्य का अस्तित्व भिन्न सिद्ध करना है। द्रव्य-पर्याय के बीच भेद करके बात करें तो ऐसा कहने में आता है कि – द्रव्य सामान्य, विशेषों में नहीं जाता और विशेषद्रव्य, सामान्य में नहीं आता। किन्तु पर की अपेक्षा बात करें तो दोनों का, द्रव्य व पर्याय का एक ही अस्तित्व है – ऐसा कहा जाता है।

समयसार की ७३ वीं गाथा में कहा है कि – विकार का स्वामी पुद्गल है। तथा वहीं ७५-७६ वीं गाथा में भी कहा कि – अन्तरंग में जो राग-द्वेष के भाव होते हैं, वे पुद्गल हैं। कर्म-नोकर्म तो पुद्गल हैं ही, किन्तु दया–दान आदि के भाव भी पुद्गल हैं। यहाँ अपेक्षा यह है कि रागादि भावों में चैतन्यस्वभाव का अभाव है, इसकारण इन्हें जड़ कहा है। जड़ का स्वामी जड़ ही होता है – इसकारण भी इन्हें पुद्गल कहा है।

जबकि प्रवचनसार के नय अधिकार में ऐसा कथन है कि – शुद्ध व अशुद्ध परिणामों का अधिष्ठाता आत्मा है। तथा यहाँ भी यही कहा है कि ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है। यहाँ तो

वर्तमान वर्तती पर्याय को आत्मा का कहना है न ? भाई! कहाँ किस अपेक्षा से कहा जा रहा है – यह समझना बहुत जरूरी है।

द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से पुण्य-पाप आदि विकार का स्वामी पुद्गल है, जबकि पर्याय से देखें तो पुण्य-पाप आदि विकार का उसकी पर्याय में सद्भाव है, इस कारण पर्याय अपेक्षा आत्मा ही पुण्य-पाप हैं। यदि विकारी पर्याय को पृथक् कर दो तो अनन्ती विकारी पर्यायों का अभाव होने पर सम्पूर्ण त्रिकाल गुण सिद्ध नहीं होंगे। और शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड आत्मद्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा। जो अशुद्ध पर्यायें विलीन हुई हैं, वे द्रव्य में ही गोता लगाकर पारिणामिक भाव से योग्यता रूप से विलीन हुई हैं। जो भविष्य में शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें होनी हैं, वे अन्दर योग्यता रूप रहेंगी ? इसतरह वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही समझना चाहिए।

अहाहा—! भगवान ! तू तेरी लीला (महिमा) तो देख! अपनी विचित्रता का अवलोकन तो कर! अनादि से विकारी भी तू रहा और अब अपने निर्विकार स्वरूप को भी तूने ही पहचाना है, पाया है। भाई! तेरा स्वरूप अद्भुत है, चमत्कारी है। तेरी केवलदर्शन की एक समय की पर्याय सम्पूर्ण लोकालोक के पदार्थों को सामान्यपने अवलोकती है और उसी समय प्रगट हुई केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक के प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न जानती है। तथा केवलज्ञान की पर्याय अनन्तकाल पर्यन्त प्रतिसमय होती रहे, तो भी द्रव्य वैसे का वैसा रहता है, उसमें कुछ भी घटता-बढ़ता नहीं है। अहो! द्रव्य का चैतन्य चमत्कारी स्वभाव कोई परम अद्भुत है। तथा सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान भी अद्भुत-अलौकिक है। इसका पार सम्यग्ज्ञान ही पा सकता है। केवलज्ञान की पर्याय में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद हैं। श्रुतज्ञान की पर्याय भी ऐसी ही है, मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का अन्तर है।

अहाहा—! जिस केवलज्ञान पर्याय में अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, उस पर्याय का स्वरूप जितना एक समय में है, उतना ही दूसरे समय में, तीसरे समय में – ऐसे अनन्तकाल पर्यंत रहता है। अहो! ऐसा चैतन्यवस्तु का कोई अद्भुत स्वभाव है। समयसार कलश २७३ में

आया है कि – आत्मा का सहज अद्भुत वैभव है।

जिस समय जैसी षट्गुणीहानिवृद्धि वस्तु में होती है, वह सब कुछ केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि ज्ञान अर्थात् आत्मा ही पुण्य-पाप है, क्योंकि त्रिकालीद्रव्य (अंशी) के अंश (पर्याय) में ये भाव उत्पन्न होते हैं।

त्रिकाली द्रव्य आत्मवस्तु सामान्य स्वरूप है और निर्मल व मलिन पर्यायें इसका विशेष स्वरूप है। सामान्य व विशेष मिलकर ही सम्पूर्ण वस्तु होती है। यदि इस वस्तु का एक पर्याय अंश निकाल दें तो वस्तु ही अधूरी रह जायेगी। अखण्ड वस्तु की सिद्धि ही संभव नहीं होगी। जबकि यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि द्रव्य-पर्याय दोनों ही जीव का स्वरूप है। इसलिए कहा है कि आत्मा ही संयम है, आत्मा ही पुण्य-पाप है।

अब कहते हैं कि – ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा) है। मात्र नग्न दशा धारणकर स्थूल रूप से महाव्रतादि का पालन करना दीक्षा नहीं है। विषय-कषाय में अटके रहना तो विशुद्ध पाप है, किन्तु मात्र दया-दान और व्रतादि के शुभभाव भी राग ही है। ये दया-दानादि के परिणाम तो पर समय हैं, इनका लक्ष्य छोड़कर अपने स्व–समय में आओ – ऐसा यहाँ कहा है, क्योंकि आत्मा ही प्रवज्या है। आत्मा को छोड़कर कोई प्रव्रज्या का, चारित्र का स्वरूप ही नहीं है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा स्वयं ही चारित्र है। आत्मा चैतन्यघन प्रभु स्वयं ही प्रव्रज्या है। स्व-स्वरूप में अन्तर्लीन हुई दशा चारित्र है, और वह स्वयं ही है। उसमें राग का आलम्बन नहीं है।

इसप्रकार ज्ञान का जीव पर्यायों के साथ अव्यतिरेक निश्चय साधित देखना। यहाँ 'ज्ञान' शब्द को आत्मा के अर्थ में ग्रहण करना। मलिन व निर्मल पर्यायों के साथ आत्मा की भिन्नता नहीं, अभिन्नता है – ऐसा निश्चय से सिद्ध हुआ जानना। पर्याय में जो शुद्धता-अशुद्धता है, वह आत्मा ही है – ऐसा जानना।

अब यहाँ कहते हैं कि – सर्व परद्रव्यों के साथ आत्मा की भिन्नता है। ये शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियाँ, आठकर्म और देव-शास्त्र-गुरु आदि पर पदार्थों

से ज्ञान की (आत्मा की) भिन्नता है, पृथकता है; तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जीवस्वभाव के साथ अव्यतिरेक (अभिन्नता) है, एकपना है। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों को दूर करके शुद्ध एक परमार्थरूप ज्ञान का प्रत्यक्ष स्व-संवेदन से अनुभव करना।

प्रश्न :— किस विधि से – क्या करके आत्मा का अनुभव होता है ?

उत्तर :— पर समय के भावों को दूर करके आत्मा का अनुभव होता है, पुण्य-पाप के भाव, जिन्हें अपनी पर्याय में होने से आत्मा कहा है; परन्तु वे भाव स्व-स्वरूप के भान बिना पर में अपनेपने के अनादि विभ्रम से उत्पन्न हुये हैं, अतः वे पुण्य-पाप के भाव भी पर भाव ही हैं। उन सबको दूर करके अपने शुद्ध एक ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकाग्र होकर परिणमन से आत्मानुभव होता है, मोक्षमार्ग होता है। कारणान्तर अर्थात् दया-दान आदि के शुभ विकल्प से मोक्षमार्ग नहीं होता। यहाँ कारणान्तर का निषेध करके वीतराग भावरूप प्रवज्या सिद्ध की है। शुभ या अशुभ भाव प्रवज्या नहीं है। भले ही शुभाशुभ भाव अपने आत्मा में ही होते हैं परन्तु उनका मूल शुद्ध चैतन्यमय आत्मा नहीं है, बल्कि उसका मूल अनादि विभ्रम है।

स्वरूप में रमणतारूप वीतराग दशा ही प्रवज्या है, यही निश्चय चारित्र है। जिसतरह धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, उसीतरह पुण्य-पाप का मूल अनादि विभ्रम है, मिथ्यादर्शन है। इस कारण अपने आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होने पर भी वे परभाव हैं, पर समय हैं।

प्रश्न :— सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा को भी शुभाशुभ भाव होते देखें जाते हैं न ?

उत्तर :— सम्यग्दर्शन होने के बाद जो भाव होते हैं, वे विभ्रम जनित नहीं होते, अस्थिरताजन्य हैं और वे धर्मी के ज्ञान के ज्ञेयमात्र होते हैं। उनमें ज्ञानी का स्वामित्व नहीं होता। धर्मात्माओं को एक शुद्धोपयोग की ही भावना है। उन्हें शुभाशुभभावों में रुचि नहीं होती।

जो भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु सदा ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव स्वभाव से अपने अन्तरंग में विराजता है, उसकी दृष्टि बिना अनादि से पर में अपनेपने का

विभ्रम है और उसके कारण संसार परिभ्रमण का कारण पुण्य–पाप का भाव निरन्तर उत्पन्न हुआ ही करता है। इसकारण कहते हैं कि – भाई! पुण्य-पाप का भाव अनात्मा है, परसमय है।

आत्मा का स्वभाव जैसा व जितना है, वैसा ही और उतना ही पर्याय में प्राप्त होने का नाम मोक्ष है और मोक्ष का कारण वीतरागी दशा रूप निर्मल चारित्र है।

प्रश्न :– यह चारित्र कैसे प्रगट हो ?

उत्तर :– अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे पुण्य-पाप भाव रूप परसमय को दूर करके स्वयं ही प्रवज्यारूप निश्चयचारित्र को प्राप्त होता है। अहाहा––! निज ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में रमणता (लीनता) द्वारा स्वयं ही पुण्य-पाप को दूर करके निर्मल चारित्र भाव को प्राप्त होता है।

शरीर-मन-वाणी, आठ कर्म आदि परद्रव्यों से आत्मा भिन्न है और ज्ञान, दर्शन आदि जीव के स्वभावों से अभिन्न है। यहाँ दया-दान वगैरह पुण्य-पाप के भावों को जीवस्वभाव कहा है; क्योंकि वे जीव की पर्यायों के स्वभाव हैं। इनके साथ जीव का अभिन्नपना है। ये भाव यदि परद्रव्यों में भी हों तो अतिव्याप्ति दोष आवे और ये भाव यदि अपनी अवस्था में न हों तो अव्याप्ति दोष आवे; किन्तु वे परद्रव्य में नहीं होते; इसकारण अतिव्याप्ति नहीं और अपनी अवस्था में होते ही हैं; इसकारण अव्याप्ति भी नहीं। इसप्रकार शुभाशुभ भाव आत्मा की पर्याय में है। इसलिए आत्मा है – ऐसा पहले सिद्ध किया है।

यदि द्रव्यदृष्टि के विषय की अपेक्षा बात हो तो पुण्य-पाप के परिणाम पुद्गल के परिणाम हैं – ऐसा कहा जाता है, किन्तु इस कथन से कोई एकान्त से ऐसा मान ले कि वे जीव की पर्याय में हुए ही नहीं है, तो यह मानना सही नहीं है।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा पुण्य-पाप के भाव भी जड़ हैं, अजीव हैं – ऐसा कहकर पुद्गल इनका स्वामी है – ऐसा कहा है और पर्याय की अपेक्षा ये जीव की पर्याय में व्याप्त हैं, इसलिए जीव ही हैं – ऐसा कहा है। ऐसा

अनेकान्तमय वस्तु का स्वरूप है।

अब कहते हैं – उन पुण्य-पाप के भावों का मूल शुद्ध चैतन्यमय आत्मा नहीं है; किन्तु अनादि विभ्रम है।

पूर्णानन्द का नाथ ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा स्वयं है, उस आत्मा के सम्मुख होकर इसकी प्रतीति करना, अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के साथ आनन्द का अंश, शान्ति का अंश, चारित्र आदि अनन्त गुणों के अंश प्रगट हो जाते हैं। कहा भी है – **'सर्वगुणांश समकित'** अर्थात् समकित के साथ सर्वगुण अंश रूप में निर्मल हो जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि – शुभाशुभ के मोहजाल को दूर करके स्वयं को ही प्रवज्यारूप अवस्था में पाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्व-समय को प्राप्त करके मोक्षमार्ग को अपने में ही स्थापित करके जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त किया है – ऐसे त्याग-ग्रहण से रहित, साक्षात समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान में अवस्थित देखना ही धर्म है, चारित्र है।

पहले कहा था कि – पुण्य-पाप की पर्याय आत्मा की है, किन्तु उसका मूल विभ्रम है तथा उसका फल संसार है। इसकारण अब कहते हैं कि – उसे दूर करके स्व-स्वरूप में रमणता ध र्म है, चारित्र है। छठवें गुणस्थान में जो था ड़ा सा विकल्प है, वह यहाँ गौण है। यहाँ मुख्य तो सातवें गुणस्थान की बात है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना स्व-समय एवं शुभाशुभ भाव होना परसमय है।

प्रश्न :– दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय तो सभी जीव हैं ?

उत्तर :– यहाँ द्रव्य स्वभाव की बात नहीं, यहाँ तो पर्याय की बात है। द्रव्यस्वभाव से तो सभी जीव वीतरागस्वरूप भगवान हैं। अभव्य जीव भी स्वभाव से तो जिनस्वरूप हैं; किन्तु इससे क्या ? यहाँ तो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव में स्थिति करके (पर्यायपने) स्व-समय होने की बात है। जो द्रव्यरूप से स्व-समय है, उसके पर्याय रूप से स्व-समय होने की बात है।

स्व-स्वरूप के सन्मुख होकर ज्ञान की प्रतीति, ज्ञान का ज्ञान और

ज्ञान की रमणतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिति रूप स्व-समय को प्राप्त करते हैं।

भाई! पुण्य–पाप रूप परसमय को दूर करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिति करना मोक्षमार्ग है। मुनिराजों को जो व्यवहार के विकल्प उठते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। वह तो रागरूप होने से बोझा है। उस बोझ को माथे से उतारकर स्वरूप में रमणता मोक्षमार्ग है। मुनिराज निर्मल रत्नत्रय की परिणति रूप मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणमाकर सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं। यही मोक्षमार्ग का फल है। अब उनके स्वरूप का ग्रहण और राग का त्याग – ऐसे त्याग-ग्रहण के विकल्प भी नहीं रहते। वे साक्षात् समयसार स्वरूप हो जाते हैं। समयसारनाटक में आया है कि–

'ज्ञानकला घट–घट बसै, जोग–जुगति के पार।
निज निज कला उदोत करि, मुक्त होय संसार।।'

द्रव्यस्वभाव तो अन्तरंग में जिनस्वरूप ही है, राग की एकता तोड़कर स्वरूप में रमणता करने पर वह प्रगट होता है।

प्रश्न :– यह ठीक है, परन्तु दर्शनशुद्धि तो करनी ही पड़ेगी न ? जो भगवान के दर्शन–पूजन से होती है।

उत्तर :– अरे भाई! दर्शनशुद्धि क्या चीज है ? तुझे अभी इसी का पता नहीं है। ज़िसमें अपने आत्मस्वरूप की पहचान होने पर अनन्त गुणों की आंशिक व्यक्तता होकर निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद प्रत्यक्ष आता है, उसे दर्शनशुद्धि कहते हैं। शुद्धिवंत, दृष्टिवंत पुरुषों को भगवान के दर्शन-पूजन आदि करने की भावना प्रतिदिन होती है – यह जुदी बात है, परन्तु यह क्रिया कोई दर्शनशुद्धि का स्वरूप नहीं है। जिसमें मोक्ष सुख का अंश अनुभव में आता है और 'मैं पूर्ण विज्ञानघन स्वभावमय आत्मा हूँ' – ऐसी प्रतीति जागृत होती है, वह दर्शनशुद्धि कोई अलौकिक चीज है।

अब कहते हैं कि – 'निर्मल रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त किया है – ऐसे ग्रहण-त्याग से रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थ रूप शुद्धज्ञान में ही

निश्चल रहना, देखना; प्रत्यक्ष अनुभव करना मोक्ष है। तीनकाल तीनलोक को जानने का नाम केवलज्ञान नहीं; बल्कि पूर्णदशा को सम्पूर्णतया प्रत्यक्ष अनुभव करने का नाम केवलज्ञान है।'

गाथा ३९० से ४०४ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ भावार्थ में कहा है कि – ज्ञान अर्थात् आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि – पुण्य-पाप के भाव अपनी पर्यायें हैं। ऐसा पहले सिद्ध कर आये हैं। देखो, जो लक्षण जीव में व्यापे और दूसरे धर्म-अधर्म द्रव्यों में भी व्यापे तो वह अतिव्याप्ति दोष कहलाता है। और जो लक्षण पूरे जीवद्रव्य में ही न व्यापे तो वह अव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण माना जाता है। जैसे कि – अरूपीपना जीव का लक्षण कहें तो उसमें अतिव्याप्ति दोष आयेगा; क्योंकि अरूपीपन जैसा जीव में है वैसा ही धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों में भी है। इसकारण जीव का अरूपी लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। इसीतरह जीव का लक्षण केवलज्ञान करे तो यह अव्याप्ति दोष से दूषित है; क्योंकि यह लक्षण सब जीवों के स्वरूप में घटित नहीं होता।

जो लक्षण लक्ष्य के एक भाग में व्यापे, उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं और जो लक्षण लक्ष्य को उल्लंघन करके अलक्ष्य में चला जाता है, वह अतिव्याप्ति दोष कहलाता है। यहाँ ज्ञान को सर्वद्रव्यों से भिन्न बताया, इसकारण अतिव्याप्ति दोष का निवारण हो गया तथा ज्ञान को अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया, इसकारण अव्याप्ति दोष दूर हुआ।

आत्मा का लक्षण उपयोग है। इस लक्षण से लक्ष्य (आत्मा) जाना जा सकता है। देखो, भगवान आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के राग से नहीं जाना जा सकता। यह तो ज्ञान लक्षण से ही जाना जा सकता है। यहाँ उपयोग में ज्ञान की मुख्यता से बात की है, दर्शन की अपेक्षा यहाँ बात नहीं की। ज्ञान अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है तथा सम्पूर्ण आत्माओं में है, अतः यह ज्ञान लक्षण ही जीव का निर्दोष लक्षण है।

यहाँ ज्ञान प्रधान आत्मा का अधिकार है; क्योंकि ज्ञान लक्षण से ही

आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभव गोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि ज्ञान ही प्रधान है; क्योंकि –

१. बहुत से धर्म तो छद्‌मस्थ के अनुभव गोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों के कहने से उनका उल्लेख करने से आत्मा को कैसे पहचाना जा सकता है?

२. बहुत कुछ धर्म जो अनुभव गोचर हैं, वे सर्व द्रव्यों में सामान्य हैं। जैसे कि – अस्तित्व-वस्तुत्त्व आदि। ये अन्य द्रव्यों में भी समान रूप से पाये जाते हैं। अतः इनसे भी आत्मा की पहचान नहीं हो सकती।

३. कुछ धर्म, जो परद्रव्यों के निमित्त से हुए नैमित्तिक भाव हैं। जैसे पुण्य-पाप आदि विभाव। वस्तुतः ये औपाधिक भाव हैं। इनसे भी शुद्धात्मस्वरूप की पहचान नहीं हो सकती।

इसलिए यह निश्चय हुआ कि – ज्ञान कहने से ही ज्ञानी आत्मा की पहचान हो सकती है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण होने से निर्दोष, निर्बाध लक्षण है। इसलिए आत्मा के अधिकार में ज्ञान प्रधान है।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु स्वयं अन्तर्मुखाकार ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है, अनुभव में आता है; इसकारण ज्ञान को ही आत्मा कहा है। अभेद विवक्षा में ज्ञान-गुण और आत्मा गुणी – ऐसा गुण-गुणी का भेद नहीं है। इसकारण अभेद–विवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो – कोई विरोध नहीं है, अविरोध है। ज्ञान ही आत्मा है – ऐसा कहकर यह सिद्ध करना है कि ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने का अर्थ है कि आत्मा में ही एकाग्र हुआ है।

यहाँ 'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसा कहकर गुण-गुणी में अभेद सिद्ध किया है।

देखो, हजार वर्ष पहले आनन्दकन्द निज ज्ञायकस्वभाव में रमण करनेवाले अपने आनन्दस्वरूप में लीन होकर प्रचुर आनन्द का संवेदन करनेवाले महामुनि आचार्य अमृतचन्द्रदेव की यह टीका है। मूलगाथा आचार्यदेव कुन्दकुन्दस्वामी की है। यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभ उपयोग रूप प्रवृत्ति अनादि अज्ञान के कारण है। स्वरूप की दृष्टि बिना अज्ञान से

पुण्य-पापरूप विभावों की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पापरूप भाव चैतन्य के स्वभाव रूप नहीं हैं – विभाव हैं, इसकारण अनात्मा हैं; परसमय हैं तथा आनन्दकन्दप्रभु आत्मा में मौज मनाना, केलि करना चारित्र है, धर्म है तथा मोक्ष का कारण है। इस चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है।

निर्मल रत्नत्रय रूप परिणमन स्व-समय प्रवृत्ति है और वह धर्म है, मोक्षमार्ग है। वीतरागी परिणमन स्वरूप सम्पूर्ण मोक्षमार्ग है, उसमें द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है और उनका परिणमन पर्याय है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, सम्यक्चारित्र पर्याय है, केवलज्ञान पर्याय है तथा सिद्धदशा भी पर्याय है। पहले अज्ञानवश पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न हुआ करते थे, वह परसमय प्रवृत्ति थी। उस परसमय प्रवृत्ति को दूर करके निजज्ञानानन्द- स्वरूप में एकाग्र होकर रमणता करना – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप स्व-समय प्रवृत्ति है। यह स्व-समय प्रवृत्ति रूप परिणमन मोक्षमार्ग है। साथ में सहचरपने हुआ राग मोक्षमार्ग नहीं है। उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु वह राग है। वह वास्तव में तो परसमय है, धर्मात्मा उसे परसमय ही जानते हैं।

इसप्रकार स्व-स्वरूप की दृष्टि-ज्ञानपूर्वक उसीमें रमणता करते-करते सम्पूर्ण स्थिरता करके पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यही यथार्थ मोक्षमार्ग है, अन्य बाह्य क्रियाकाण्ड मोक्षमार्ग नहीं है। कहा है न –

एक होय त्रण काल में, परमारथ का पंथ।
प्रेरे जो परमार्थ को, वह व्यवहार कहंत।।

यहाँ कहते हैं कि – वह केवलज्ञान एक समय में युगपद तीनकाल व तीनलोक के सर्व पदार्थों को जान लेता है। अन्दर त्रिकाली आत्मा तो शक्तिरूप से भगवान जिनस्वरूप ही स्वयं है, यदि स्वरूप से जिनस्वरूप न हो तो पर्याय में केवलज्ञानस्वरूप परमात्मदशा, पूर्णता प्रगट कहाँ से हो ?

जैसे लेंडी पीपल के दाने-दाने में चौंसठ पुटी चरपराहट भरी है, वह घोंटने से बाहर प्रगट होती है। जो अन्दर में शक्तिरूप से विद्यमान होती है,

वही तो बाहर में व्यक्त होती है;, इसीतरह भगवान आत्मा में जो अनन्त चतुष्टयरूप शक्ति अन्दर में सहज पड़ी है। वही अन्तर में एकाग्रता द्वारा, आत्मस्थिरता के अभ्यास द्वारा केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टयरूप में प्रगट हो जाती है। यही परमार्थ है। पर की सेवा करना, दया पालन करना आदि परमार्थ नहीं है। अन्दर में परमार्थभूत जो निज स्वरूप है, उसको अंतर अवलम्बन द्वारा प्रगट करने का नाम परमार्थ है। बाकी परद्रव्यों का तो कोई कर ही क्या सकता है। किसी एकद्रव्य का अन्यद्रव्य में तो प्रवेश ही नहीं होता।

देखो, भगवान आत्मा को देखने-जानने के तीन प्रकार हैं –

१. शुद्धनय का विषय पूर्ण आनन्दस्वरूप त्रिकाली भगवान आत्मा है। उस त्रिकाली आनन्दस्वरूप शुद्ध एक आत्मा को अभेद से शुद्धनय कहते हैं। समयसार गाथा ११ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी त्रिकाल सत्यार्थ भूतार्थ शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को शुद्धनय कहा है।

यहाँ कहते हैं कि – शुद्धनय का ज्ञान करके अर्थात् त्रिकाली, शुद्ध, ज्ञानानन्द, निर्मलानन्द आत्मा का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और यही आत्मा को पहले प्रकार से देखना है।

यह 'देखना' चौथे-पाँचवें गुणस्थान में होता है। श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती अविरत दशा में थे। उन्हें व्रत, चारित्र नहीं था। उन्होंने 'तीर्थंकर' नामकर्म का बंध किया है। वर्तमान में प्रथम नरक में हैं। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। भाई ! सम्यग्दर्शन की ऐसी ही कोई अचिंत्य महिमा है। त्रिकाली भूतार्थ स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान एवं अनुभव चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में होता है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका का अर्थ पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है। वे लिखते हैं कि – चौथे गुणस्थान में भी शुद्धनय का ज्ञान अर्थात् शुद्ध विज्ञानघनस्वभावी आत्मा का अनुभव होकर प्रतीति होती है तथा जिसमें आत्मस्वरूप की विशेष लीनता होकर स्वरूप की, शान्ति की वृद्धि होती है, वह श्रावक का

पाँचवाँ गुणस्थान है। वहाँ अभी अप्रमत्तदशा नहीं है।

अब 'देखने' शब्द का दूसरे प्रकार से स्पष्टीकरण करते हैं – ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद अन्दर में विकल्पों का त्याग एवं बाहर में वस्त्रों का भी त्याग करके जो पूर्ण ज्ञानस्वरूप का अभ्यास करता है। उपयोग को स्वरूप में ही स्थिर करता है। वह निज आत्मबाग़ में अतीन्द्रिय आनन्द की क्रीड़ा करता है। उनका सर्व बाह्य परिग्रह छूट गया है। निराकुल आनन्द में मग्न रहने वाले छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वीतरागी संत मुनिवरों के बाहर में वस्त्र भी नहीं और अन्तरंग में विकल्प भी नहीं होते। रागरहित आनन्द की दशा ही ऐसी सहज होती है कि वस्त्रादि सहज ही छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ने में जोर नहीं लगाना पड़ता। वैसे भी वास्तव में तो पर वस्तु का छोड़ना/ग्रहण करना आत्मा में है ही कहाँ ? आत्मा तो पर वस्तु के ग्रहण-त्याग से शून्य ही है, क्योंकि उसमें 'त्यागोपादानशून्यत्व' नामक शक्ति विद्यमान है न ?

यहाँ आचार्य कहते हैं कि – पूर्ण ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की अन्तर्दृष्टि और अनुभव बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वरूप में विशेष-विशेष लीनता होना ही चारित्र है। विशेष स्वरूपलीनता व स्थिरता तो सातवें आदि गुणस्थानों में ही होती है तथा पूर्ण लीनता चौदहवें गुणस्थान में होती है। वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो चारित्र की उग्रता अप्रमत्त दशा में होती है – यह बात है। जब मुनिराज छठवें गुणस्थान में होते हैं, तब पाँच महाव्रत आदि के विकल्प उठते हैं, वह प्रमाद दशा है। जबतक अप्रमत्त दशा नहीं आती तबतक चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में ज्ञान-श्रद्धान तथा यथासंभव स्थिरता होती है। पश्चात् बाह्य परिग्रह का त्याग कर उपयोग को ज्ञान में स्थिर करते हैं। यह दूसरे प्रकार का देखना है।

यहाँ कहा जा रहा है कि आत्मा को तीन प्रकार से देखना–जानना होता है। 'देखना' अर्थात् अन्तर्मुख होकर ऐसा अनुभव करना जिससे आत्मा की प्राप्ति हो। अहाहा—! नित्यानन्द, प्रभु, त्रिकाली, शुद्ध, ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को छोड़कर अन्य परिग्रह में सावधानीपूर्वक रुचिपूर्वक

प्रवर्तना संसार परिभ्रमण का कारण है। शुद्ध चैतन्यमय निजपरमात्मस्वरूप में सावधान न होकर व्रत, तप, भक्ति आदि राग के परिणाम में सावधानीपूर्वक, रुचिपूर्वक प्रवर्तन करना अन्य परिग्रह है। यह शरीर-मन-वाणी-धन-सम्पत्ति आदि तो बहुत दूर की वस्तुएँ हैं, यहाँ तो अपनी ही पर्याय में जो व्रत, भक्ति आदि के विकल्प उठते हैं, उन्हें भी अन्य वस्तु कहा गया है। ये विकल्प भी अन्य परिग्रह हैं। राग में सातधानीपने, रुचि लेकर प्रवर्तन करना और उसके आचरण में – पालन में अटक जाना मिथ्याभाव है। यहाँ कहते हैं कि – शुद्धनयस्वरूप त्रिकाली भूतार्थ भगवान जिनस्वरूप जो निज आत्मतत्त्व अन्दर में विराज रहा है, उसे स्व-संवेदन में जानना-वेदन करना – अनुभव करना प्रथम नम्बर का देखना है। वह चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थान में होता है।

अन्दर जानने-देखने वाला भिन्न स्वरूप से है – उसे जानो एवं देखो – ऐसी भगवान की आज्ञा है। यह देह तो क्षण भर में भस्म हो जायेगी। यह तो संयोग है। यह तेरी नहीं है। तेरी वस्तु तो एक ज्ञायक भावपने त्रिकाल अन्दर विराज रही है। उसे जान और देख। तत्पश्चात् सर्व परिग्रह छोड़कर एक ज्ञायकभाव में ही स्थिर होने का अभ्यास कर! उसी में उग्रपने लीन होकर रमणता कर! अहा––! 'निजपदे रमे सो राम कहिए' अर्थात् जो अन्तर में स्थिरता का अभ्यास करके स्वरूप में रमे वह राम है, आतमराम है। वह स्व-समय है। नाटकसमयसार में कहा है – **'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदापद मेरो'**।

जिसप्रकार प्रथम शुद्धनय से निजस्वरूप को सिद्ध समान जाना था, श्रद्धान किया था, उसीप्रकार ध्यान में लेकर चित्त को, उपयोग को वहीं स्थिर कर दो – यह दूसरे प्रकार का आत्मा का देखना है। यह देखना अप्रमत्त अवस्था में होता है। जहाँ तक ऐसे अभ्यास से केवलज्ञान नहीं हो जाता वहाँ तक यह अभ्यास निरन्तर रहता है। बस यही एक करने योग्य है।

भाई! तेरे स्वरूप की अनन्त समृद्धि की तुझे खबर नहीं है। एकबार भी तू उसे अपने ज्ञान-श्रद्धान में ले ले तो तू निहाल हो जायेगा और तत्पश्चात्

भी तू उसे अपने ज्ञान-श्रद्धान में ले ले तो तू निहाल हो जायेगा और तत्पश्चात् अन्तर एकाग्रता के अभ्यास से उपयोग को अन्तर में स्थिर कर दे, तब तो कहना ही क्या है ? फिर तो वह एकाग्रता तुझे केवलज्ञानी बना देगी – ऐसी अपार-अचिन्त्य महिमा है, उस एकाग्रता की। बस इसी का नाम चारित्र है, दिगम्बर मुनिदशा है।

जहाँ पंचमहाव्रत का विकल्प भी छूट जाय ऐसी जो निर्विकल्प अप्रमत्तरूप मुनिदशा होती है, वह दूसरे नम्बर का देखना है। इसके बिना व्रत, तप, भक्ति आदि सब धूलधाणी है।

शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना होता है; क्योंकि श्रुत ज्ञान अमूर्तिक आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जानता। आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष हुआ है, किन्तु अमूर्तिक प्रदेशों को श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। जिसप्रकार अंधे व्यक्ति को शक्कर का स्वाद तो प्रत्यक्ष वेदन में आता है; परन्तु वह उसके रंग को नहीं देख सकता; उसीप्रकार शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना होता है। जब केवलज्ञान होता है तब साक्षात् देखना होता है। यह तीसरे प्रकार का देखना है। इस स्थिति में ज्ञान शुद्ध निर्मल निरंजन उपयोगरूप होता हुआ सबका प्रत्यक्ष देखने-जाननेवाला है। इससे यह तीसरे प्रकार का देखना ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है। यहाँ चैतन्य ज्योति सर्व को सम्पूर्ण प्रत्यक्ष करती प्रगट हो जाती है। यह मोक्षदशा है। इसप्रकार पूर्णज्ञान का प्रत्यक्ष देखना तीसरे प्रकार का देखना है। आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है। वह सर्वज्ञपना अन्तर एकाग्रता के दृढ़ उग्र अभ्यास द्वारा प्रगट करना चाहिए – ऐसा उपदेश है। ◆

जिसे भव से थकान लगी हो....

चाहे जैसा बढ़िया भोजन हो, किन्तु जिसे भूख न लगी हो, उसे कैसे भायेगा ? उसीप्रकार जिसे भव की थकावट का अनुभव नहीं होता तथा आत्मा की भूख नहीं लगी है; उसे तो आत्मा के आनन्द की बात सुनने में भी अच्छी नहीं लगती, उसकी रुचि जाग्रत नहीं होती।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी : आत्मधर्म, मार्च १९७७, पृष्ठ २

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता–
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर:
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।२३५।।

श्लोकार्थ :– (**अन्येभ्य: व्यतिरिक्तम**) अन्य द्रव्यों से भिन्न, (**आत्म-नियत**) अपने में ही नियत, (**पृथक्-वस्तुताम्-विभ्रत**) पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होने से स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकता को धारण करता हुआ), (**आदान-उज्झन-शून्यम्**) ग्रहण त्याग से रहित (**एतत् अमलं ज्ञानं**) यह अमल (रागादिक मल से रहित) ज्ञान (**तथा-अवस्थितम् यथा**) इसप्रकार अवस्थित (निश्चल) अनुभव में आता है कि जैसे (**मध्य-आदि-अंत-विभाग-मुक्त-सहज-स्फार-प्रभा-भासुर: अस्य शुद्ध-ज्ञान-ज्ञान: महिमा**) आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे (शुद्ध ज्ञान की पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भावार्थ :– ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है।।२३५।।

कलश २३५ पर प्रवचन

शरीर-मन-वाणी-कर्म इत्यादि परद्रव्यों से भिन्न अपने में ही नियत पृथक् वस्तुपने को धारण करता हुआ ज्ञान निश्चल रहता हुआ अनुभव में आता है। भगवान आत्मा पर पदार्थों से भिन्न है। चैतन्य सत्ता से भरा भगवान स्वयं स्व-स्वरूप में नियत परद्रव्यों से जुदा है। जिसप्रकार अन्य सभी वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं, उसीप्रकार स्वयं भगवान आत्मा

भी सामान्य विशेषपने को धारण करता हुआ पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। देखो, पहले पर से भिन्न कहा और अब कहते हैं कि – वह आत्मा राग से रहित है। भाई ! यहाँ पर से और राग से विमुख होकर स्वभाव सन्मुख होने और भेदज्ञान प्रगट करने की बात है। अनादि से परवस्तु के साथ जो एकपना माना है, वह भ्रमणा है, झूठी कल्पना है। उससे भेदज्ञान करके स्वयं अन्दर जैसा और जितना है, उसे वैसा और उतना ही स्वीकार करना, जानना, मानना भेदज्ञान है, यही कर्तव्य है, यही धर्म है।

अहाहा..........! त्रिकाल ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का न आदि है, न मध्य है, न अन्त है – ऐसी अनादि-अनन्त सहज फैली चैतन्य प्रभा से देदीप्यमान शुद्धज्ञानघनस्वरूप महिमा नित्य उदित रहे। जो शक्तियाँ शक्तिरूप थीं व स्व के आश्रय से गुलाब के फूल की भांति पूर्ण खिल गई; विकसित हो गई, प्रगट हो गई। अब इसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा सादि अनंत सदा उदीयमान अविचल रूप से स्थिर रहेगी।

केवलज्ञान व मोक्ष दशा जो प्रगट हो गई, वह कभी बदलेगी नहीं।

कलश २३५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ भावार्थ में कहते हैं कि – ज्ञान का पूर्णरूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होता है, इसकारण उसकी महिमा को कोई विकृत नहीं कर सकता। सदा उदयमान रहता है।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। तीनलोक व तीनकाल को एक समय में जाने – ऐसी उसकी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य जब प्रगट होती है तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होती है। केवलज्ञान प्रगट होने के साथ ही पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य, पूर्णशान्ति, पूर्णप्रभुता, पूर्णस्वच्छता इत्यादि शक्तियों की पूर्ण व्यक्त दशा प्रगट हो जाती है। इसका नाम केवलज्ञान व पूर्णदशा है। इसलिए कहते हैं कि उसकी महिमा को कहीं आँच नहीं आती।

भगवान आत्मा अन्दर प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। उसके अंश में गुणरूप में

जो ज्ञान-श्रद्धान आनन्द आदि होते हैं, वे उपाय और जो पूर्णज्ञान, श्रद्धान आनन्द की दशायें (पर्यायें) प्रगट होती हैं, वे उपेय अर्थात् उपाय के फल हैं। ये दया-दान-व्रत आदि व्यवहार रत्नत्रय उपाय और सिद्ध पद उपेय, व्यवहार रत्नत्रय को उपाय कहना तो निमित्त का कथन है। यह निमित्त अपेक्षा किया गया व्यवहार कथन मात्र जानने के लिए ही प्रयोजनवान है। यह ग्रहण करने के लिए – स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयोजनवान नहीं है। मात्र भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ही प्रयोजनवान है, आश्रय करने योग्य है और उसके आश्रय से जो आंशिक शुद्धि रूप ज्ञान-श्रद्धान-चारित्र प्रगट होता है, वह वास्तविक उपाय है तथा उनकी पूर्णता उपेय है।

यहाँ कहते हैं कि उपाय द्वारा उपेय अर्थात् पूर्ण केवज्ञान दशा और मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है। वह निराबाध सादि-अनन्त काल तक उदीयमान रहती है।

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना ही ग्रहण करने योग्य सब कुछ ग्रहण और त्यागने योग्य सब कुछ त्याग करना है' –

इस अर्थ का काव्य कहते हैं –

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ।।२३६।।

श्लोकार्थ :– (**संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः**) जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है (अपने में लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्मा का (**आत्मनि इह**) आत्मा में (**यत् सन्धारणम्**) धारण करना (**तत् उन्मोच्यम् अशेषतः उन्मुक्तम्**) वही छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है (**तथा**) और (**आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम**) ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है।

भावार्थ :– पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागने योग्य था उस

सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृत्कृत्यता है।।२३६।।

कलश २३६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

पहले ज्ञानादि शक्तियाँ राग में रुककर-अटककर खण्ड-खण्ड रूप से खण्डित हो रही थीं। अब उन्हें वहाँ से समेटकर चैतन्यस्वरूप में लीन की, वहाँ ग्रहण करने योग्य सबका ग्रहण हुआ और त्यागने योग्य सब विकल्पों का सहज त्याग हो गया। वहाँ पुण्य के भाव भी भूमिकानुसार सहज ही छूट जाते हैं।

आत्मा आनन्दकन्द प्रभु है। उसमें रमण करना चारित्र दशा है। अहा! धन्य वह दशा जिसमें भेद का विकल्प भी छूट गया। ऐसी अत्यन्त निर्मल दशा प्रगट होने पर ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण हो जाता है और छोड़ने योग्य सब छूट जाता है। स्वयं अन्दर विराजित जिनस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होने पर जिनदशा पर्याय में प्रगट हो जाती है। जिनदशा कहीं बाहर से नहीं आती।

कविवर बनारसीदास ने कहा है –

घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन।
मत मदिरा के पान सौ, मतवारा समुझै न।।

अहा! अन्दर में स्वयं जिनस्वरूप ही है, किन्तु अन्तर में एकाग्र होकर निजस्वरूप को पहचानता ही नहीं है, इसकारण उसकी प्राप्ति नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि जिसने अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यराज को जानकर उसका अनुभव किया और उसी में लीन हुआ, उसने ग्रहण करने योग्य सर्व ग्रहण कर लिया और छोड़ने योग्य सब छोड़ दिया। अहो! धन्य वह मुनिदशा! जो प्रचुर स्व-संवेदन में लीन हुआ। वे महामुनिराज तो बादशाहों के बादशाह हैं। अपने चैतन्य लक्ष्मी से सर्व शोभायमान हैं। जो बाहर की सम्पत्ति में लीन हैं,, वे तो बिचारे रंक हैं, भिखारी हैं।

पूर्ण ज्ञानघन प्रभु आत्मा अनन्त शक्तियों का ध्रुवधाम है। उसको अन्तर में धारण कर उसी में रम जाओ! वही रमने-ठहरने और ग्रहण करने योग्य है।

स्वरूप के आश्रय से जिसने स्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान और रमणता-लीनता-स्थिरता परिपूर्ण कर ली, उसको अब कुछ भी करना बाकी नहीं रहा। वे कृत-कृत्य हो गये हैं। द्रव्य-गुण तो परिपूर्ण हैं ही, उसकी पर्याय में जहाँ पूर्ण व्यक्तता हुई वहाँ कृतकृत्यपना हो गया। उसको अब कुछ भी ग्रहण-त्याग करना शेष नहीं रहा। ◆

'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है' – इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं –

(अनुष्टुभ)

व्यतिरिक्त परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारक तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते।।२३७।।

श्लोकार्थ :– (**एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्**) इसप्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (निश्चल रहा हुआ) है; (**तत् आहारकं कथम् स्यात् येन अस्य देहः शंकयते**) वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म नोकर्म रूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके ? (ज्ञान के देह हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है।)।।२३७।।

कलश २३७ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञानतत्त्व है और देह अजीव जड़तत्त्व है – इसप्रकार दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। जब पर्याय में जो शुभाशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, वे भी ज्ञायक स्वभाव से भिन्न हों तो प्रत्यक्ष शरीर तेरा कहाँ से/कैसे हो सकता है ? इसलिए अब शंका भी नहीं करना; क्योंकि तेरे कर्म व नोकर्म रूप आहार ही नहीं है।

अहा ! जिसे ऐसा ज्ञान हो गया कि – 'मैं ज्ञायक हूँ', उसे 'मैं देह हूँ'' ऐसा भ्रम कैसे हो सकता है। 'मैं आहारक हूँ' – ऐसी भ्रान्ति भी नहीं रहती।

◆

अब इसी अर्थ को गाथाओं में कहते हैं –

समयसार गाथा ४०५–४०७

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु।।४०५।।
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को पि य तस्स गुणा पाउगिआ विस्ससो वा वि।।४०६।।
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सा णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु।।४०५।।
नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम्।
स कोऽपि य तस्य गुणः प्रायोगिका वैस्रसा वाऽपि।।४०६।।
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृहणाति किंचित्।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः।।४०७।।

यों आत्मा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे।।४०५।।
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगिक अरु वैस्रसिक है।।४०६।।
इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा वो नही कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो ! परद्रव्य जीव अजीव में।।४०७।।

गाथार्थ :– (एवम्) इसप्रकार (यस्य आत्मा) जिसका आत्मा (अमूर्तः) अमूर्तिक है (सः खलु) वह वास्तव में (आहारकः न भवति) आहारक नहीं है; (आहारः खलुः) आहार तो (मूर्तः) मूर्तिक है (यस्मात्) क्योंकि (सः तु पुद्गलमयः) वह पुद्गलमय है।

(यत् परद्रव्यम्) जो परद्रव्य है (न अपितु शक्यते ग्रहितुं यत्) वह ग्रहण नहीं किया जा सकता (न विमोक्तुं यत् च) और छोड़ा नहीं जा सकता; (सः कः अपि च) ऐसा ही कोई (तस्य) उसका (आत्मा का)

ज्ञान हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृहणाति न मुंचति च, प्रायोगिकगुण-सामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्धा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतु मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्य च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्य-त्वादाहार:। तता ज्ञान नाहारक भवति। अता ज्ञानस्य देहा न शंकनीय:।

(प्रायोगिक: वा अपि वैस्रस: गुण:) प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है।

(तस्मात् तु) इसलिए (य: विशुद्ध चेतयिता) जो विशुद्ध आत्मा है (स:) वह (जीवाजीवयो: द्रव्ययो) जीव और अजीव द्रव्यों में (परद्रव्यों में) (किंचित् न एव गृहणाति) कुछ भी ग्रहण नहीं करता (किंचित् अपि न एवं विमुच्यति) तथा कुछ भी त्याग नहीं करता।

टीका :— ज्ञान परद्रव्य को किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से उत्पन्न) गुण की सामर्थ्य से तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है और (कर्म-नोकर्मादिरूप) परद्रव्य ज्ञान का- अमूर्तिक आत्मद्रव्य का-आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (अमूर्तिक के मूर्तिक आहार नहीं होता) इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है। इसलिए ज्ञान के देह की शंका नहीं करनी चाहिए।

(यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना चाहिए; क्योंकि, अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है। इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।)

भावार्थ :— ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थत: आत्मा के पुद्गलयम आहार नहीं है और आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता; — स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो — अपने ही परिणाम का ग्रहणत्याग होता है, परद्रव्य का ग्रहणत्याग तो किंचित्मात्र भी नहीं होता।

इसप्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह नहीं है।

गाथा ४०५ से ४०७ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि – आत्मा परद्रव्य को न ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है। आत्मा आहार को ग्रहण करे या छोड़े – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। यद्यपि निचली भूमिका में ऐसा राग आता है; परन्तु आत्मा परद्रव्य का ग्रहण व त्याग कर ही नहीं सकता।

अहाहा.......! भगवान आत्मा परद्रव्य के एक रजकण का भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता – ऐसा ही आत्मा का स्वरूप है। प्रायोगिक अर्थात् पर के निमित्त हुए गुण की सामर्थ्य से और वैस्रसिक अर्थात् स्वाभाविक गुण की सामर्थ्य से भी आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण व त्याग अशक्य है।

जिसप्रकार अनन्त विस्तार वाले आकाश का अस्तित्व सहज ही है, उसीतरह उसको जाननेवाला – ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा भी सहज स्वयं सिद्ध है। अहा.........! भगवान आत्मा के अचिन्त्य स्वभाव की क्या बात करना ? अनन्त आकाश को छुए बिना, स्पर्श किए बिना ही उसे अपनी ज्ञानपर्याय में एकसमय में जाने ले – ऐसा आात्मा का परम अद्भुत अचिन्त्य स्वभाव है।

देखो, परमाणु एक प्रदेशी है। ऐसे परमाणु अनन्तानन्त हैं। जीवद्रव्य उनसे अनन्तवें भाग होकर भी अनन्त हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से अनन्तगुणें तीन काल के समय हैं और उनसे आकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्तगुणी अनन्त है। उनसे भी अनन्तगुणी एक जीवद्रव्य में गुणों की संख्या है। अहो! जीवद्रव्य का ऐसा अलौकिक अकृत्रिम सहज स्वरूप है। इसका कर्ता-धर्ता अन्य कोई नहीं है।

अहो! वीतराग सर्वज्ञदेव का कहा हुआ तत्त्व बहुत गूढ़ एवं गंभीर है। जिसके ज्ञान की एक समय की पर्याय लोक के अनन्त-अनन्त द्रव्यों, उनके गुणों एवं पर्यायों को एकसाथ एक समय में जान ले, उस द्रव्य के सामर्थ्य की क्या बात करें ? अहो! आत्मा अद्भुत चमत्कारी वस्तु है।

कहते हैं कि अचिन्त्य, बेहद जिसका स्वभाव है, ऐसे भगवान आत्मा

की प्रतीति करनेवाली सम्यग्दर्शन की पर्याय भी अचिन्त्य है। अहा ......! त्रिकाली ध्रुवद्रव्य एकसमय की पर्याय में आ जाय, वह पर्याय भी कोई अद्‌भुत ही होना चाहिए न ?

अष्टपाहुड़ में चारित्र को अक्षय-अमेय कहा है। अन्दर में अचिन्त्य महिमावन्त आत्मा की प्रतीतिमय पर्याय की भी अचिन्त्य महिमा है।

अहा ! यदि जीव अनन्त-अनन्त स्वाभाविक गुण शक्तियों से भरे चैतन्य चमत्कार स्वरूप भगवान आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति करे तो अनन्त गुणों का स्वाभाविक परिणमन होकर उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।अहा ! उस निर्विकल्प प्रतीति की भी बेहद शक्ति है। उसकी एक समय की ज्ञानपर्याय, रमणता की पर्याय, आनन्द की पर्याय असीम शक्ति सम्पन्न है। इसीतरह अन्य सभी गुणों की पर्यायों में भी अचिन्त्य शक्ति होती है।

अहा ! ऐसे भगवान आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति सम्यग्दर्शन एवं उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उन श्रद्धा-ज्ञान की भी अचिन्त्य शक्ति है। ऐसा आत्मा परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता और छोड़ता भी नहीं है। परद्रव्य जैसा है, उसका मात्र ज्ञान करना आत्मा का स्वभाव है। प्रायोगिक गुण की सामर्थ्य से या वैस्रसिक गुण की सामर्थ्य से आत्मा पर को ग्रहण करे या छोड़े – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। प्रायोगिक अर्थात् पर के निमित्त से हुई रागादि पर्याय तथा स्व के आश्रय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होने का नाम वैस्रसिक गुण है – पर का ग्रहण-त्याग इन दोनों के नहीं होता।

अहो ! दिगम्बर सन्तों ने जगत के पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रगट कर दिया है। पर पदार्थों को छोड़ना या ग्रहण करना जीव की इच्छा के परिणाम के अनुसार नहीं होता; क्योंकि इच्छा के परिणाम में परद्रव्य को ग्रहण करने या छोड़ने की ताकत ही नहीं है। इस शरीर को हिलावे-चलावे या स्थिर रखे, वाणी बोले या मौन रखे, आहार-पानी ग्रहण करे या छोड़ दे – इत्यादि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग करे – ऐसी ताकत इच्छा में – राग के भाव में बिल्कुल नहीं है। यह बात बराबर बैठनी चाहिए।

ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि गुण तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव हैं, वे पर को ग्रहण करें या छोड़े – यह तो प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि ग्रहण-त्याग तो पर्याय में होता है; परन्तु ग्रहण-त्याग रूप इच्छा की विभावपर्याय में भी यह ताकत नहीं है कि वह पर को ग्रहण करे या छोड़े।

भाई ! संयोग मे आनेवाली वस्तु अपने स्वकाल में स्वतः ही संयोग में आती है और जानेवाली स्वयं ही चली जाती है। उनका आना-जाना उन्हीं के कारण होता है, जीव की इच्छा से बिल्कुल नहीं होता। ऐसी ही वस्तुस्थिति है। ऐसा कहते हैं न ! 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम' इसका अर्थ क्या ? यही न कि – जो रजकण आनेवाला हो, वह अपनी स्वचतुष्टय की योग्यता से स्वतः ही आता है, किसी की इच्छा के कारण नहीं। पर की इच्छा में ऐसी सामर्थ्य ही नहीं है।

प्रभु ! एकबार सुन तो सही सन्तों की बात ! अहा ! रत्नत्रय के धारक मुनिराज को कदाचित् आहार लेने की वृत्ति उठे, किन्तु उस वृत्ति के कारण आहार ग्रहणं नहीं होता; क्योंकि उस इच्छा या वृत्ति में आहार ग्रहण की सामर्थ्य नहीं है तथा आज अष्टमी है, चौदश है इसलिए आज बार-बार आहार नहीं लेना, एक ही बार शुद्ध आहार लेना – ऐसी इच्छा के कारण न तो बार-बार आहार न लेना ही संभव है और न एक बार शुद्ध आहार लेना ही संभव है; क्योंकि इच्छा के कारण न तो आहार का ग्रहण होता है और न त्याग ही होता है। आहार का आना और न आना – यह आहार के उन-उन परमाणुओं की स्वतंत्र क्रिया है। भाई ! तेरे अस्तित्व में तेरी वृत्ति उठती है; किन्तु उससे पर के अस्तित्व को ग्रहण करे यो छोड़े – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि – किसी जीव को भगवान की प्रतिमा विराजमान करने का भाव आया इसलिए उसके द्वारा प्रतिमा विराजमान होने की क्रिया हुई हो – ऐसा नहीं है। उसे प्रतिमा विराजमान कराने का शुभ राग हुआ, यह उस जीव की अपनी स्वतंत्र क्रिया है तथा प्रतिमा विराजमान होने की क्रिया जो हुई वह प्रतिमा रूप में निर्मित और विराजित उन-उन

परमाणुओं की स्वतंत्र क्रिया है। दोनों स्वतंत्रपने हैं। समकिती को शुभ राग रूप वृत्ति होती है, किन्तु उस वृत्ति का वह मात्र ज्ञायक है, जबकि अज्ञानी ऐसा मिथ्या अभिमान करता है कि – 'यह मैंने किया है'।

अब कहते हैं कि – नोकर्म अर्थात् आहार-पानी वगैरह पुद्गल, जड़ मूर्तिक द्रव्य हैं और आत्मा चेतन, अमूर्तिक द्रव्य है। रोटी-दाल-भात-शाक आदि मूर्तिक द्रव्य रूप आहार आत्मा के हैं ही नहीं; क्योंकि आहार मूर्तिक द्रव्य है और आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है। अमूर्तिक चेतन द्रव्य को मूर्तिक जड़ का आहार कैसे हो ? इसलिए आत्मा आहारक नहीं है। आत्मा आहार को ग्रहण करनेवाला ही नहीं है इसलिए ऐसी शंका ही नहीं करना चाहिए कि आत्मा ने आहार ग्रहण किया।

ज्ञान आत्मा का ऐसा असाधारण गुण है कि वह स्वयं को तो जानता ही है, अपने आत्माश्रित अनन्त गुणों को भी जानता है, अनन्त पर पदार्थों को जानता है, इसीकारण ज्ञान आत्मा का लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है। अभेद विवक्षा में लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार होता है। इस कारण आचार्यों ने आत्मा को ज्ञान ही कहा। यहाँ लक्ष्य का लक्षण में आरोप करके उस लक्षण को, ज्ञान को ही आत्मा कहा है। इससे यहाँ 'ज्ञान' शब्द से 'आत्मा' समझना।

गाथा ४०५ से ४०७ के भावार्थ पर प्रवचन

अहो ! ज्ञानस्वभावी प्रभु आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्णरहित अरूपी अमूर्तिक वस्तु है और कर्म-नोकर्म तो रूपी मूर्तिक है। अरूपी आत्मा रूपी कर्म-नोकर्म को ग्रहण करे एवं छोड़े – यह संभव नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से रहित शून्य है। अहा ! जो पर को छुए तक नहीं, वह पर का ग्रहण कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता – इसलिए परमार्थ से देखा जाय तो आत्मा को पुद्गलमय आहार होता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि – परमार्थ से आत्मा को पुद्गल का कर्म-नोकर्म आहार नहीं है। वास्तव में तो जो राग की वृत्ति उठती है, वह भी आत्मा की वस्तु नहीं है; क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप में कहाँ है ? वे तो विभाव हैं,

औपाधिक भाव हैं। जो आत्मा को राग-द्वेष वाला मानता है, वह आत्मघाती है, हिंसक है। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य चमत्कारमय अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु हूँ' – ऐसा अनुभव करने के बदले 'मैं रागी-द्वेषी हूँ – ऐसा अनुभव करना तो आत्मघात है, स्वयं की हिंसा है; क्योंकि इसमें अपने स्वरूप का अनादर है।

अरे! चारित्रवन्त मुनिराजों को भी जो कदाचित् आहार की वृत्ति हो तो उसे वृत्ति के कारण से आहार का ग्रहण नहीं होता, कर्मों व नोकर्मों का बन्ध एवं निर्जरा भी उस शुभ राग के कारण नहीं होती। अरे! मुनिराज उस वृत्ति के भी कर्ता नहीं हैं, मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं। वृत्ति हुई इस अपेक्षा भले कर्ता कहो, परन्तु वह 'वृत्ति करने योग्य है' – ऐसा वे नहीं मानते। अतः इस अपेक्षा वे अकर्ता ही हैं, ज्ञाता ही हैं।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि – स्वभाव रूप परिणमें या विभावरूप परिणमें, प्रत्येक स्थिति में अपने ही परिणामों का ग्रहण-त्याग है, परद्रव्यों का ग्रहण-त्याग तो जरा भी नहीं है। ◆

इसप्रकार आत्मा के आहार न होने से वस्तुतः उसके देह ही नहीं है। आत्मा के देह न होने से पुद्गलमय देहस्वरूपलिंग (वेष-बाह्य चिन्ह) मोक्ष का कारण नहीं है। इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं –

(अनुष्टुभ)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
तता देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम्।।२३८।।

श्लोकार्थ :– (**एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य देहः एव न विद्यते**) इसप्रकार शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है; (**ततः ज्ञातुः देहमयं लिंग मोक्षकारणम् न**) इसलिए ज्ञाता को देहमय चिन्ह मोक्ष का कारण नहीं है।।२३८।।

कलश २३८ पर प्रवचन

शुद्धज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा के देह ही नहीं है। देह तो बाह्य वस्तु है। जब देह ही नहीं है तो देहमयलिंग – नग्नदशा का भेष मोक्ष का कारण

कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। मुनिराज के बाहर में देह की नग्नदशा और पंचमहाव्रतादि के विकल्प होते हैं; परन्तु वे मोक्ष के कारण नहीं हैं।

अहाहा.....! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। वस्तुतः इस आत्मा के देह नहीं है। देह की जो समय-समय की अवस्था होती है, वह जड़ की जड़ में होती है; वह अवस्था आत्मा की नहीं है, आत्मा से भी नहीं हुई। देह की अवस्था में आत्मा नहीं और आत्मा की अवस्था में देह की अवस्था नहीं। इसकारण भगवान आत्मा का देहमयलिंग मोक्ष का कारण नहीं। अहाहा.......! आत्मा स्व को जानता है, अनन्त परद्रव्यों को जानता है – ऐसा स्वपरप्रकाशक ज्ञाता स्वरूप है आत्मा का; परन्तु जिसको अन्दर में स्वरूप का भान नहीं हुआ, उसे देहादि पर का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिसको निजस्वरूपग्राही ज्ञान हुआ है, उसे ही स्व-परप्रकाशक यथार्थ ज्ञान हुआ है। वह यथार्थ जानता है कि देहमयलिंग मोक्ष का कारण नहीं है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा प्रभु है। उसका जिसको यथार्थज्ञान हो गया, उसे निजस्वरूपग्राहीज्ञान प्रगट हुआ है। उसे ही देहादि परपदार्थों का भी सत्यार्थ ज्ञान हुआ है। अहा.......! जिसको स्वरूप की अन्तर्दृष्टि और स्वानुभव की दशा प्रगट हुई, उसे देहमयलिंग मोक्ष का कारण नहीं – ऐसा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

भाई ! व्रतादि के विकल्प भी देहमयलिंग ही हैं। मुनिराज उन्हें मोक्ष का कारण नहीं मानते।

लौकिक मान्यताओं की तो बात ही जुदी है, वहाँ तो बहुत मोटी-मोटी भूलें हैं। वे तो ऐसा मानते हैं कि – भगवान की भक्ति करते-करते तेरा कल्याण हो जायेगा। गुरु की भक्ति तुझे भवसागर से तार देगी। परन्तु यह तो मिथ्यात्व की मोटी शल्य है। यहाँ तो ऐसा कहना कि – जब जीव अपने स्वरूप को जाने तो फिर उसे देहादि पदार्थों का और राग का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है। फिर वे देहमयलिंग को, बाह्य द्रव्यलिंग को मोक्ष का कारण नहीं मानते। ◆

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं –

समयसार गाथा ४०८–४०९

पांसडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।।४०८।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति।।४०९।।

पाषण्डिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति।।४०८।।
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंग यद्देहनिर्ममा अर्हत:।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते।।४०९।।

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमाना: संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते। तदनुपपन्नम्; सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां, शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूत शरीरममकारत्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिंग त्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात्।

मुनिलिंगको अथवा गृहस्थीलिंगको बहुभांतिके।
ग्रहकर कहत है मूढजन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है'।।४०८।।
वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देहमें।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते।।४०९।।

गाथार्थ :– (**बहुप्रकाराणि**) बहुत प्रकार के (**पाषंडिलिंगानि वा**) मुनिलिंगों को (**गृहिलिंगानि वा**) अथवा गृहीलिंगों को (**गृहीत्वा**) ग्रहण करके (**मूढा:**) मूढ (**अज्ञानी**) जन (**वदंति**) यह कहते हैं कि (**इदं लिंगम्**) यह (**बाह्य**) लिंग (**मोक्षमार्ग: इति**) मोक्षमार्ग है।

(**तु**) परन्तु (**लिंगं**) लिंग (**मोक्षमार्ग: न भवति**) मोक्षमार्ग नहीं है; (**यत्**) क्योंकि (**अर्हंत:**) अर्हन्तदेव (**देहनिर्ममा**) देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए (**लिंगम् मुक्तवा**) लिंग को छोड़कर (**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते**) दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।

टीका :– कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं। यह (द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अर्हंतदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है इसलिए, शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते हुए देखे जाते हैं।)

भावार्थ :– यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो अर्हंतदेव आदि देह का ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते! इससे यह निश्चय हुआ कि – देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

गाथा ४०८ से ४०९ पर प्रवचन

देखो, 'नग्नदशा और पंचमहाव्रत के परिणाम द्रव्यलिंग हैं' – ऐसा मानकर और द्रव्यलिंग से मोक्ष होता है – ऐसा मानकर अज्ञानी जीव द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं, जो कि अयुक्त है।

प्रश्न :– पिछली गाथा में यह कह आये हैं कि आत्मा ग्रहण-त्याग से शून्य है और यहाँ कह रहे हैं कि अज्ञानी मुनिलिंग ग्रहण करता है – इसका क्या कारण है?

उत्तर :– यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है कि आत्मा द्रव्यलिंग का ग्रहण या त्याग कर सकता है या नहीं; यह तो सत्य ही है कि आत्मा ग्रहण-त्याग से शून्य है; यहाँ तो मात्र यह बताना है कि – अज्ञानी मुनिदशा को ग्रहण करना मानता है। इस अपेक्षा से व्यवहार से नाममात्र ऐसा कहा है। वास्तव में तो यही सत्य है कि देह की कोई भी क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। अतः जहाँ जो नयविवक्षा हो वहाँ वही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ कहते हैं कि – द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर उसे ग्रहण करने की बात ही अयुक्त है; क्योंकि सभी अरहन्त भगवान के शुद्ध ज्ञानमयपना है

अर्थात् भगवान आत्मा तो शुद्धज्ञानमय-ज्ञातादृष्टा प्रभु है। उसके आश्रय से उत्पन्न आत्मा की निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणति मोक्षमार्ग है। सभी अरहंत देवों के द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममकार का त्याग है और उससे शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग द्वारा उन्हें शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गपने उपासना देखने में आती है।

देखो, शरीर की क्रिया और राग की क्रिया का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करना जिनमार्ग है, मोक्षमार्ग है। सभी अरहन्तदेवों ने इस मोक्षमार्ग की उपासना करके मोक्षपद प्राप्त किया है। भाई ! द्रव्यलिंग होता है; परन्तु वह मोक्षमार्ग रूप नहीं होता।

बापू ! बात सुनने में कर्णकटु है। कायरों को कलेजा काँप जाय – ऐसी है; परन्तु सत्य यही है। अरे ! जगत के भोले प्राणियों ने बाहरी तप-त्याग और द्रव्यलिंग में धर्म मान रखा है; किन्तु भाई ! यह जिनमार्ग नहीं है। स्वरूप में उग्र रमणता करने का नाम चारित्र है, धर्म है।

यहाँ जहाँ भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करने की बात कही, वह सब निर्मल रत्नत्रय के परिणाम को प्राप्त करने की अपेक्षा से कही गई बात है। वास्तविक उपासना तो त्रिकली शुद्धज्ञानमय द्रव्य की करनी है। त्रिकाली शुद्ध निज ज्ञायकस्वरूप की दृष्टिपूर्वक उसी में रमणता करने से निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी दशा प्रगट होती है। उसे ही रत्नत्रय की उपासना कहते हैं। पर्याय की दृष्टि या उपासना करने की बात नहीं है।

प्रश्न :– पर्याय का सेवन करता है – ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर :– सेवन तो त्रिकाली द्रव्य का ही है, ध्यान का ध्येय तो शुद्ध ज्ञायक ही है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा ध्यान की पर्याय है और ध्यान का ध्येय त्रिकाली द्रव्य है, ध्यान की पर्याय का द्रव्य ही ध्येय होने से, राग ध्येय नहीं होने से, ध्यान की पर्याय का सेवन करता है – ऐसा यहाँ कहा है।

नग्नदशा का होना और राग के सेवन का अभाव होने से निर्मल रत्नत्रय

का सेवन करने वाला कहा है। वस्तुतः तो नग्नता और राग के त्याग का कर्तापना भी इनके नहीं है। इनके तो स्वरूप की दृष्टि-रमणता है। स्वरूप में दृष्टि-रमणता करने से शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है, इसे ही सेवन करनेवाला कह दिया है तथा ऐसी स्थिति में द्रव्यलिंग का त्याग तो सहज ही है। इस बात को इन शब्दों में कहा है कि – 'वे शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते दिखाई देते हैं।

गाथा ४०८ से ४०९ के भावार्थ पर प्रवचन

यह शरीर की नग्नदशा, पाँच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुणों का बाह्य व्यवहार वास्तविक मुनिपना नहीं है। यह तो भावलिंगी संत मुनिवरों को सहचररूप से होता है, निमित्तरूप से होता है, इसकारण इसे द्रव्यलिंग कहा है। द्रव्यलिंग नहीं होता – ऐसा भी नहीं है और द्रव्यलिंग सत्यार्थ मोक्षमार्ग है – ऐसा भी नहीं है। भाई ! मार्ग जैसा है, उसे यथार्थ – वैसा ही समझना चाहिए। वस्त्र सहित तो कोई भी लिंग नहीं होता। न द्रव्यलिंग और न भावलिंग। यह तो कुलिंग हैं छहढाला में आता है –

'धारें कुलिंग लहि महतभाव, ते कुगुरु जन्म जल उपलनाव।'

भाई ! जिसको अन्तरंग में निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय भावलिंग प्रगट होता है, उन्हें बाहर में अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प रूप द्रव्यलिंग होता है। परन्तु यह सब राग है। मुनिराज इसे छोड़कर परम मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं।

अरे ! अज्ञानी जीवों ने कभी निजघर में प्रवेश नहीं किया। शास्त्र स्वाध्याय करे और थोड़ा सा शास्त्रों का शब्दज्ञान हो जाये तो ऐसा मानने लगता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया। परन्तु यह तो शब्दज्ञान मात्र है, इसमें आत्मज्ञान नहीं है। जो शब्दों के आश्रय से ज्ञान होता है उसे तो शब्दश्रुत कहा है। वह आत्मज्ञान नहीं है। अहा ! जिनशास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान, नवतत्त्वों का भेदरूप श्रद्धान तथा छहकाय के जीवों की रक्षा पालने का भाव – ये सब व्यवहार द्रव्यलिंग हैं। ये वस्तुतः मोक्ष के कारण

नहीं हैं।

कहते हैं कि – यदि द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण हो तो मुनिवर इसका त्याग क्यों करते? इसका ममत्व छोड़कर निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते। इसलिए यह निश्चित हुआ कि – देहमयलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है। परमार्थ से दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

राग का अंश भी आत्मा की शान्ति व आनन्द को भंग करता है। इसकारण मुनिवर देह और राग का ममत्व छोड़कर एक दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन करने की बात पर्याय से – व्यवहार से कही है। व्यवहार से दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीनों पर्याय के भेद हैं, किन्तु निश्चय से ये तीनों एक आत्मा ही हैं, इससे एक आत्मा का ही सेवन है।

स्व-स्वरूप के आश्रय से उत्पन्न हुए निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीनों पर्याय हैं और यह व्यवहार है। नवतत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, शब्दश्रुत का ज्ञान और पंचमहाव्रत का पालन – ये तो असद्भूत व्यवहार हैं, निर्मल रत्नत्रय सद्भूत व्यवहार है और उसके आश्रयभूत भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायक प्रभु निश्चय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सेवना व्यवहार है। निश्चय से तो एकशुद्धात्मा की ही सेवना है।

परमार्थ से दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। अहा! भेद को छोड़कर चैतन्यचिन्तामणि प्रभु आत्मा के आश्रय से प्रगट निर्मल रत्नत्रय ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है। बाह्य द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। ◆

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है – यह सिद्ध करते हैं):–

समयसार गाथा ४१०

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति।।४१०।।

नाप्येष मोक्षमार्गः पार्षडिगृहिमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना ब्रुवन्ति।।४१०।।

न खलु द्रव्यलिंग मोक्षमार्गः, शरीराश्रित्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्।

मुनिलिंग अरु गृहीलिंग ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को ही बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे।।४१०।।

गाथार्थ :– (**पार्षडिगृहिमयानि लिंगानि**) मुनियों और गृहस्थ के लिंग (**चिन्ह**) (**एषः**) यह (**मोक्षमार्गः न अपि**) मोक्षमार्ग नहीं है; (**दर्शनज्ञान-चारित्राणि**) दर्शन-ज्ञान-चारित्र को (**जिनाः**) जिनदेव (**मोक्षमार्गं ब्रुवन्ति**) मोक्षमार्ग कहते हैं।

टीका :– द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हैं, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।

भावार्थ :– जो मोक्ष है सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम (आत्मा के परिणाम) हैं; इसलिए निश्चय से वही मोक्ष का मार्ग है।

जो लिंग है सो देहमय है और जो देह है वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिए आत्मा के लिए देह मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता – ऐसा नियम है।

गाथा ४१० पर प्रवचन

देखो, आचार्य कुन्दकुन्द जिनेन्द्रदेव की साक्षी देकर कहते हैं कि द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह शरीराश्रित है, पराश्रित है; इसकारण परद्रव्य है। अहाहा........! राग – मन्दकषाय रूप भाव भी शरीराश्रित-कर्माश्रित भाव है, इसकारण वह भी परद्रव्य है। भाई ! यह

शास्त्रज्ञान भी परसत्तावलम्बी ज्ञान है, अतः वह ज्ञान भी परद्रव्य है, बन्ध का कारण है। यह भी आत्माश्रित परिणाम नहीं है।

अहाहा.......! भगवान आत्मा निर्मलानन्द ज्ञानानन्द प्रभु अनन्त गुणों का पुंज है। आत्मा मात्र ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड है। यहाँ कहते हैं कि द्रव्यलिंग आत्माश्रित नहीं है, शरीराश्रित है और इसकारण परद्रव्य है। यह व्यवहार की रागवृत्ति पराश्रित होने से परद्रव्य है।

प्रश्न :– हम जो शास्त्र सुनते हैं, वह क्या है ?

उत्तर :– शास्त्र सुनने का परिणाम पराश्रित होने से परद्रव्य है। सुनने से जो शब्दज्ञान हुआ वह है तो ज्ञान की पर्याय, वह शब्द जनित नहीं है, फिर भी शब्दाश्रित ही है, इसकारण परद्रव्य है। वह आत्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं है। भाई ! पंचमहाव्रत का परिणाम पराश्रितभाव है, इसकारण वह परद्रव्य है। अहा .....! जिसको अपने पूर्णज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का भान नहीं है, उसका सारा ज्ञान-श्रद्धान व आचरण पराश्रित होने से परद्रव्य है।

प्रश्न :– यह ठीक है; परन्तु नियमसार में स्वद्रव्य के आश्रय से हुए निर्मल रत्नत्रय के परिणामों को भी परद्रव्य कहा। वह कथन किस अपेक्षा से किया गया है ?

उत्तर :– वहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि – जिसप्रकार परद्रव्य के आश्रय से अपनी नवीन निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय नहीं प्रगटती है, उसीप्रकार मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय के आश्रय से भी अपनी नवीन निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती। एकशुद्ध चैतन्यसत्तामय स्वद्रव्य के आश्रय से ही नवीन निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसकारण वहाँ निर्मल रत्नत्रय की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। (वहाँ तो निर्मलपर्याय का भी आश्रय छुड़ाकर स्वद्रव्य का ही आश्रय कराने का प्रयोजन है।)

यहाँ शुभराग के विकल्प को परद्रव्य कहा है; क्योंकि वह पराश्रित भाव है। नवतत्त्वों के भेद का श्रद्धान, भेदों का ज्ञान और राग का आचरण वेदन आदि सब पराश्रित भाव होने से परद्रव्य हैं। इसलिए वे वास्तव में

मोक्षमार्ग नहीं हैं।

अहा.........! राग और निमित्त से हटकर, पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा के सम्मुख होने से शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो पर्याय प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ लगा 'ही' शब्द यद्यपि एकान्त का द्योतक है, परन्तु यह सम्यक् एकान्त है और यह बताता है कि अन्य कोई (व्यवहार राग) मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय मोक्षमार्ग आत्माश्रित है, इसलिए यह स्वद्रव्य है। अहाहा.......! वह निर्विकल्प, निराकुल, आनन्द की दशा का अनुभव स्वद्रव्य आश्रित होने से स्वद्रव्य है।

गाथा ४१० के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम मोक्ष है। अहाहा.....! आत्मा की पूर्ण पवित्र, पूर्ण वीतराग, पूर्ण आनन्दमय दशा का नाम मोक्ष है। दुःख से छूटना और पूर्ण पवित्र वीतराग परिणाम का प्रगट होना मोक्ष है। भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के अभावरूप परिणाम का नाम मोक्ष है। जब मोक्ष आत्मपरिणाम है तो उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिए। देखो, यह युक्ति देकर सिद्ध किया है कि – आत्मा का पूर्णदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य का परिणाम यदि मोक्ष है तो मोक्षमार्ग भी आत्मा का ही परिणाममय होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि – निश्चय मोक्षमार्ग आत्मा का परिणाम है, स्वद्रव्य है।

अहा..........! आत्मा स्वरूप से मुक्तस्वरूप ही है। अबद्ध-अस्पष्ट विशेषणों का अर्थ ही यह है कि –आत्मा राग व कर्मों से बंधा व स्पर्शित नहीं हैं ऐसा भगवान आत्मा सदा मुक्तस्वरूप ही है। ऐसे निज मुक्तस्वरूप के आश्रय से जो मुक्ति की पूर्ण पवित्रता और सुख की दशा प्रगट होती है, उसी का नाम मोक्ष है। वह आत्मा का परिणाम है, इसकारण मोक्ष का कारण भी आत्मा का परिणाम होना चाहिए।

अहाहा..........! पूर्ण अतीन्द्रियज्ञान की दशा, अतीन्द्रय आनन्द एवं अतीन्द्रियवीर्य की दशा रूप मोक्षपद यदि आत्मपरिणाम है तो उसका

कारण रूप मोक्षमार्ग भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए।

अब कहते हैं कि – दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं इसलिए निश्चय से यही मोक्षमार्ग है। देखो, शब्दश्रुत का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प और पंच महाव्रतादि का परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि ये आत्मा के परिणाम नहीं हैं। जबकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए निश्चय से यही मोक्षमार्ग है।

अहाहा.....! परम पारिणामिक ध्रुव स्वभाव की निर्मल रत्नत्रय रूप परिणति मोक्ष का कारण और उसकी पूर्णता होना मोक्ष है। किन्तु पराश्रित परिणाम-विभाव परिणाम कारण और आत्मपरिणाम रूप मोक्ष उनका कार्य – ऐसा नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय कारण और मोक्ष कार्य – ऐसा भी नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय के परिणाम आत्मपरिणाम नहीं हैं; वे अनात्म परिणाम हैं, अजीव के परिणाम हैं। अजीव के परिणामों से जीव के परिणामरूप मोक्ष कैसे हो? नहीं हो सकता।

यह देह पृथक् वस्तु है, यह आत्मा नहीं है और देहादि पर के आश्रय से हुए शुभाशुभ परिणाम विभाव हैं। वे भी आत्मा नहीं हैं। द्रव्यलिंग आत्मा नहीं है। अहा.....! त्रिकाली शुद्धद्रव्य स्वयं कारण परमात्मा है। उसका पूर्ण आश्रय होने पर जो नवीन परमात्मदशा मोक्षदशा प्रगट होती है वह आत्म-परिणाम है, वह स्वद्रव्य का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि – मोक्ष आत्मपरिणाम है और उसका कारण मोक्ष का मार्ग भी आत्माश्रित परिणाम है। इसलिए आत्माश्रित शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम ही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न :– नवग्रैवेयक के देवों के ३१ सागर तक स्पर्शन इन्दिय का विषय स्त्री का भोग नहीं है, उनके हम-तुम जैसा आहार-पानी नहीं है, हजारों वर्षों बाद भूख की वृत्ति उठती है तो कण्ठ से अमृत झरने मात्र से भूख की तृप्ति हो जाती है। इसप्रकार रसना इन्दिय का विषय भी नहीं है, रंचमात्र भी जीव हिंसा नहीं है तो भी उन्हें संयम क्यों नहीं कहा?

उत्तर :– अरे! अन्दर आत्मा का श्रद्धान होने के बाद अन्तर्लीनता

होने पर आहारादि का विकल्प भी नहीं उठने का नाम संयम है। मात्र बाह्य विषयों के त्याग का नाम संयम नहीं है। जीवन पर्यंत बाह्य त्याग होने पर भी समकित बिना संयम नहीं होता; क्योंकि संयम स्वरूप में लीनता-रमणता का नाम है।

अरे! लोगों को संयम के स्वरूप का ही पता नहीं है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति प्रगट होने के बाद निज ज्ञानानन्द स्वरूप में अधिक-अधिक लीनता-रमणता होना, अतीन्द्रिय आनन्द की भरपूर जमावट होना संयम है। यहाँ यही कहा है कि – निश्चय से शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। अहाहा........! भगवान आत्मा निर्मलानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है। उसमें एकाग्रता लीनता, रमणतापूर्वक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम प्रगट होता है, वही मोक्ष का कारण है; क्योंकि उनकी पूर्णता मोक्ष है। मोक्ष भी आत्मा का परिणाम और उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही है। यह सिद्धान्त है। व्यवहार के आश्रयवाला परिणाम कभी भी मोक्ष का कारण नहीं होता, क्योंकि वह अनात्मपरिणाम है।

अब कहते हैं कि – यह देह की नग्नदशा, पंचमहाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन – ये सब देहमयलिंग है, इसलिए ये पुद्गल द्रव्यमय है। मुनिराजों के ये होते अवश्य हैं; परन्तु ये मोक्षमार्ग नहीं हैं; क्योंकि ये राग भाव हैं, देहाश्रित पराश्रित भाव हैं और परद्रव्यमय हैं, इसकारण ये मोक्षमार्ग नहीं है।

इसप्रकार यहाँ यह स्पष्ट हो गया कि – शुभभाव राग है, विभाव है, दुःख है। अहा! दुःख के परिणाम शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण कैसे हो सकते हैं, ये मोक्ष के कारण भी कैसे हो सकते हैं; नहीं हो सकते।

अरे! पर के प्रति राग की रुचि के कारण यह जीव अनादि काल से संसार में भटक रहा है। राग की रुचि नष्ट हुए बिना अन्दर जो ध्रुव एक ज्ञायकस्वभावरूप स्वयं है, उसकी रुचि नहीं होती। अहाहा.......! अनन्त-अनन्त गुणों की खान एक ज्ञायक स्वभावमय स्वयं है; इसकी दृष्टि और रुचि तभी खत्म होगी, जब राग की रुचि और पर्यायबुद्धि मिटेगी।

सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि – मोक्ष तो आत्मा के आश्रय से होनेवाला परिणाम है और उसका कारण (मार्ग) भी आत्माश्रित परिणाम ही है। राग तो विभाव है, वह आत्मा का परिणाम नहीं है। निश्चय से इसे पुद्‌गलयमय व पुद्‌गल कहा है। देहमयलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई शुभ को छोड़कर अशुभ में जाये। व्यवहार छोड़कर नीच गिरने की बात नहीं है, बल्कि व्यवहार से भी ऊपर उठकर स्वरूप में रमणता और अन्तर्लीनता करने की यह बात है। सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्‌चारित्र आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होता है, व्यवहार राग से नहीं। इसलिए व्रतादि के विकल्प जो होते हैं, उन्हें छोड़कर स्वरूप में लीन होने की यह बात है। भाई ! शुभराग के परिणाम को देहमयलिंग कहा है और वह अन्य द्रव्यमय होने से मोक्षमार्ग रूप नहीं है – ऐसा कहा है।

भाई ! अभी भी हमारे अन्दर चैतन्यचमत्कार से भरपूर भगवान आत्मा विराजमान है। इसके चमत्कार की क्या बात करें ? उसके आश्रय में जाते ही निर्मल रत्नत्रय का परिणाम प्रगट हो जाता है, मोक्षमार्ग व मोक्ष प्रगट हो जाता है। परन्तु क्या करें ? यह जीव स्वयं ही अपने को भूल रहा है तथा भूल की भ्रमणा से भवभ्रमण करता रहता है। कदाचित् उन्नति का अवसर मिलता है तो देहमय बाह्य लिंग में मूर्छित होकर उसे ही मोक्षमार्ग मान लेता है। परन्तु भाई ! लिंग देहमय है, जड़ पुद्‌गल द्रव्य0मय है, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

अहाहा......! आत्मा परिपूर्ण प्रभु त्रिकाल निरावरण शुद्ध है। अनन्तज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उसके आश्रय से उत्पन्न होता परिणाम मोक्ष का कारण बनता है।

अनन्तकाल में यह सुअवसर मिला है। अतः सत्य बात को समझने का प्रयत्न करना। यदि अभी भी नहीं किया तो फिर कब करेगा ? कैसे भी प्रतिकूल प्रसंग बने, कैसा भी कोई उपसर्ग आये तो उसकी भी परवाह न करके अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में डुबकी लगाकर उसी में निमग्न हो जा ! यही मोक्ष का मार्ग है और इसी का फल मोक्ष है। ◆

समयसार गाथा ४११

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे।।४११।।

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंग त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव, मोक्षमार्गत्वात्, आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः।

यों छोड़कर सागार या अनगार-धारित लिंग को।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू जोड़ रे! निज द्रव्य को।।४११।।

गाथार्थ :– (तस्मात्) इसलिए (सागारैः) सागारों द्वारा (गृहस्थों द्वारा) (अनगारकैः वा) अथवा अनगारों के द्वारा (मुनियों के द्वारा) (गृहीतानि) ग्रहण किए गए (लिंगानि) लिंगों को (जहित्वा) छोड़कर, (दर्शनज्ञानचारित्र) दर्शनज्ञानचारित्र में (मोक्षपथ) जो कि मोक्षमार्ग है उसमें (आत्मानं युंक्ष्व) तू आत्मा को लगा।

टीका :– क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिए समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्र में ही, वह (दर्शनज्ञानचारित्र) मोक्षमार्ग होने से, आत्मा को लगाना योग्य है – ऐसी सूत्र की अनुमति है।

भावार्थ :– यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शनज्ञानचारित्र में लागाने का वचन है वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों को छुड़ाने का उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि – वेशमात्र से (वेशमात्र से, बाह्यव्रतमात्र से) मोक्ष नहीं होता। परमार्थ से मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वही है। व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्यव्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं; उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी

ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है. केवल वेशमात्र से – व्रत मात्र से मोक्ष नहीं होता।

गाथा ४११ पर प्रवचन

अहा ! देखो, आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं स्पष्ट करते हैं कि – यह नग्नदशा और पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प मोक्षमार्ग नहीं है। यह बात मूल गाथा और टीका में कह रहे हैं। अरे प्रभु ! देह की नग्नता और शुभराग से मोक्षमार्ग मानना मिथ्याशल्य है; यह मोक्षमार्ग नहीं है।

एक समय की पर्याय तो व्यवहार आत्मा है तथा इस पर्याय के पीछे जो पूर्णज्ञान, आनन्द, शान्ति, प्रभुता, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता आदि अनन्त गुण-स्वभाव से भरा कारण परमात्मा, निश्चय आत्मा है; उस निश्चय आत्मा को नग्नदशा और क्रियाकाण्ड मोक्ष के कारण नहीं हैं; क्योंकि ये परद्रव्य हैं। स्वद्रव्य तो शुद्ध निश्चय आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुए दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मपरिणाम ही है और यही मोक्षमार्ग है। इसकारण कहते हैं कि – सर्वद्रव्यलिंग के विकल्प छोड़कर एक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही आत्मा को जोड़ना योग्य है।

बात बहुत गंभीर है। इस कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि व्रत छोड़कर कोई अव्रत अवस्था में पतित हो जाये। कोई भी उपदेश ऊँचे चढ़ने को दिया जाता है, नीचे गिरने के लिए नहीं। यहाँ यह कहने का अभिप्राय व्रतों को विकल्पों से भी हटकर स्वरूप में जुड़ जाना है।

अनन्तगुणों से भरे भगवान आत्मा, कारण परमात्मा के आश्रय से प्रगट हुए शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम ही मोक्षमार्ग है। इसलिए अपने आत्मा को उसी में जोड़ना योग्य है। इस अज्ञानी जीव को अनादि से अब तक निजघर नहीं मिला, कहा भी है –

हम तो कबहुँ न निजघर आये।
परघर भ्रमत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।। हम तो.

अहा ! पुण्य और पाप के फल में अनेक पर्यायें धारण कीं, अनेक नाम धरायें; परन्तु जो आनन्द का धाम निजघर है, उसमें आज तक नहीं आये।

यहाँ कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, निजघर में आने का यही एकमात्र उपाय है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, निजघर में आने का यही एकमात्र उपाय है। अतः अपने आत्मा को इसी में जोड़ना योग्य है।

समाधितंत्र श्लोक ८७, ८८, ८९, के आधार से कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि – 'लिंग का आग्रह नहीं होना चाहिए।' परन्तु उनका यह मिथ्या अभिनिवेश है। समाधितंत्र के कथन का आशय तो यह है कि – देह की नग्नदशा और व्रत के विकल्प देहाश्रित हैं, इसकारण – 'इनसे मोक्ष होता है या ये मोक्ष के कारण हैं' – ऐसा आग्रह छोड़ देना चाहिए। भाई! मुनिदशा में बाह्यलिंग तो नग्न ही होता है, किन्त यह शरीर की नग्नदशा मुक्ति का मार्ग नहीं है।। अतः इस दुरभिनिवेश को छोड़ने की बात है। वस्त्र सहित मुनिपना मानने की बात तो तीनकाल में संभव ही नहीं है। जिसे भी मोक्ष होगा, नग्नदशा में ही होगा। दिगम्बर नग्नदशा हुए बिना भी मोक्ष नहीं और दिगम्बर नग्नदशा से भी मोक्ष नहीं – ऐसी बात है। मुनिराज को आवश्यक रूप से नग्नदशा ही होती है। वस्त्र-पात्र आदि मुनि के हो ही नहीं सकते। वस्त्र सहित लिंग तो कुलिंग ही है।

'भगवान के दर्शनार्थ समोशरण में जाने हेतु हाथी के ओहदे पर बैठै-बैठे जाते हुए माता मरुदेवी को केवलज्ञान हो गया, मल्लिनाथ भगवान को स्त्री के देह में, स्त्री पर्याय में ही केवलज्ञान हो गया।' आदि सब कथायें कल्पित हैं, मिथ्या हैं।

तीर्थंकर स्त्री की पर्याय में होते ही नहीं हैं। स्त्री की पर्याय में मुनिदशा भी नहीं होती। स्त्री पर्याय में में पाँचवाँ गुणस्थान से ऊपर नहीं होता। आज तक जो अनन्त तीर्थंकर एवं मुनिराज मोक्ष पधारे, उन सबके बाह्य दशा नग्न ही थी तथापि यहाँ यह बात कही जा रही है कि – बाह्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है।

भाई! अनन्त ज्ञानियों की परम्परा में परमागम की यह अनुमति है कि द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है। दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। अतः आत्मा को वहीं जोड़ना चाहिए।

गाथा ४११ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, मुनि एवं श्रावक के व्रत छोड़कर अव्रत दशा में जाने की यह बात नहीं है। अव्रत दशा में न तो मुनिपना ही संभव है और न केवलज्ञान ही होता है। व्रतों के विकल्प मात्र से भी मुक्ति नहीं होती।

भाई! भावलिंग सहित द्रव्यलिंग नग्नदशा तो यथार्थ ऐसा ही होता है; किन्तु ऐसी स्थिति में भी एक भावलिंग ही मोक्ष कारण है, द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं; फिर भी कोई द्रव्यलिंग को ही मोक्ष का कारण मानकर भेषधारण करके संतुष्ट रहे, उसके द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने के लिए यह उपदेश है। भाई! दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं है। यह तो वस्तु स्वरूप है। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणाम ही हैं, इसलिए आत्मा को उसी में जोड़ना चाहिए।

देखो, मुनि-श्रावक के बाह्यव्रतों को व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग का साधन कहा है।

प्रश्न :– 'व्यवहार से साधन कहा है' इसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– भाई! साधक तो एक ही है, किन्तु उसका कथन दो प्रकार का है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में कहा है न कि – मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, उनका कथन दो प्रकार से है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से जो दृष्टि-ज्ञान-रमणता हुई – वह निश्चय मोक्षमार्ग, सत्यार्थ मोक्षमार्ग है और उसके साथ व्यवहार के जो विकल्प होते हैं, उन्हें सहचर व बाह्य निमित्त जानकर, आरोप करके उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है। उसीप्रकार मुनि-श्रावक के बाह्यव्रत मोक्षमार्ग के सत्यार्थ साधक नही हैं। श्रीमद् राजचन्द ने भी यही कहा है –

काया की विसारि माया, स्वरूप में समाया ऐसा।
निर्ग्रन्थों का पन्थ, भव अन्त का उपाय है।।

अहा! बाह्यलिंग का पक्ष छोड़कर जो स्वरूप में समा गये, स्वरूप में डूब गये, वे निर्ग्रन्थ मुनि हैं। ऐसा निर्ग्रन्थ का पंथ ही मोक्ष का पंथ है।

कुछ लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि – केवलज्ञानी छद्मस्थ गुरु

की विनय करते हैं; किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। जो अपने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में बड़ा होता है, उसके प्रति बहुमान का विकल्प आना स्वाभाविक है, किन्तु जब भगवान केवली से कोई बड़ा है ही नहीं तो केवली भगवान किसका विनय करें ? तथा भगवान केवली तो परवीतरागी हैं उन्हें विनय का विकल्प ही संभव नहीं है। इसकारण भी यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि केवलज्ञानी छद्मस्थ का विनय करते हैं।

हाँ, यदि कोई शिष्य गुरु से पहले केवलज्ञानी हो जाय तो उनके केवलज्ञान में यह भी आयेगा कि अमुक छद्मस्थ मुनिराज मेरे गुरु थे। बस, इतना ही। वीतरागी सर्वज्ञ को इससे अधिक कुछ भी संभव नहीं है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि – 'गुरु की भक्ति करते-करते मुक्ति हो जाती है।' परन्तु यह सर्वथा असत्य कथन है। शिष्य गुरुओं के प्रति यथा योग भक्ति की भावना अवश्य होती है, किन्तु भक्ति का भाव है तो राग ही न ? राग करते-करते वीतरागता कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती।

जिसके अन्तरंग में निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो, उन्हें जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, उनको बाह्य निमित्त जानकर व्यवहार से साधन कहा है, किन्तु जिसको अन्तरंग में निश्चय प्रगट ही नहीं हुआ, उसको व्रतादि साधन नहीं हो सकते हैं ? व्यवहार से भी वे साधन नहीं कहलाते।

यह बात व्यवहार से पक्षधरों की समझ में नहीं आती; परन्तु करें क्या ? मार्ग ही जब यह है तो उनके साथ समझौता कैसे करें ? वस्तुस्वरूप की तो समझ ही होती है, इसमें समझौता संभव नहीं है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि – व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में जुड़ने से मोक्ष होता है, केवल भेष मात्र से, व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता। स्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान-रमणता – स्थिरता ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। उसमें जुड़ने से ही मोक्ष होता है। यहाँ तो मात्र यही सिद्ध करना है कि – मात्र बाह्यभेष में मोक्षमार्ग नहीं। बाह्यवेष कुछ भी हो – ऐसा भी नहीं चलेगा। बाह्य में नग्नदशा होना तो अनिवार्य ही है। बस, इतना आरोप देख उपचार से इसे मोक्ष का साधन कहा है। ◆

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी गाथा का सूचक कलश कहते हैं –

(अनुष्टुभ)

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव तदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३६।।

श्लोकार्थ :– (**आत्मनः तत्त्वम् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रय-आत्मा**) आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मक है (अर्थात् आत्मा का यथार्थ रूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है); (**मुमुक्षुणा मोक्षमार्गः एकः एव सदा**) इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है।२३६।।

कलश २३६ पर प्रवचन

देखो, आत्मा का तत्त्व अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इसप्रकार त्रिक स्वरूप है। आत्मतत्त्व तो त्रिकाल है, पर यहाँ आत्मा के वास्तविक परिणमन की बात है। आत्मा का निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमन होना वास्तविक स्वरूप है।

अब कहते हैं कि – यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग ही सदा सेवन करने योग्य है। जिसको आत्मा की पूर्ण और पवित्रदशा ही प्रगट करना हो, उन्हें शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग ही सेवन करने योग्य है। बीच में व्रतादि के विकल्प भी होते हैं, किन्तु ये सदा सेवन करने योग्य नहीं हैं। वे तो मात्र जानने योग्य हैं, ज्ञान के ज्ञेय मात्र हैं।

देखो, मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, इसका कथन दो प्रकार से होता है। निश्चय मोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग। जिनको सुखी होना हो, परमानन्द की प्राप्ति की अभिलाषा हो, उनको एक निश्चय मोक्षमार्ग ही सेवन करने योग्य है। व्यवहार मोक्षमार्ग तो कथनमात्र-उपचार है, इसकारण व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय मोक्षमार्ग ही आदरणीय है।

अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं –

समयसार गाथा ४१२

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहिं तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु।।४१२।।

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु।।४१२।।

आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि, स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयातिनिश्चलमात्मानं; तथा समस्तचिन्तांतरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व; तथा सकल कर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्य–

तूं स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्यमें।।४१२।।

अब इसी उपेदश को गाथा द्वारा कहते हैं –

गाथार्थ :– हे भव्य ! (**मोक्षपथे**) मोक्षपथ में (**आत्मानं स्थापय**) अपने आत्मा को स्थापित कर, (**तं च एव ध्यायस्व**) उसी का ध्यान कर, (**तं चेतयस्व**) उसी को चेत-अनुभव कर (**तत्र एव नित्यं विहर**) और उसी में निरन्तर विहार कर; (**अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः**) अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

टीका :– (हे भव्य !) स्वयं अर्थात् अपना अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में-रागद्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत्-अनुभव कर; तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न

स्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृम्भमाणपरिणमतया तन्यमपरिणामो भूत्वा दर्शन-ज्ञानचारित्रेष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंगमानो ज्ञेयरूपेणापाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः।

होते हैं उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपने के द्वारा तन्मय परिणामवाला होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप को ही एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेरूप होने से उपाधिस्वरूप है। ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रथ्व्यों में किंचित् मात्र भी विहार मत कर!

भावार्थ :— परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वही मोक्षमार्ग है। उसी में (दर्शनज्ञानचारित्र में ही) आत्मा को स्थापित करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए और उसी में विहार (प्रवर्तन) करना चाहिए, अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। यहाँ परमार्थ से यही उपेदश है कि – निश्चय मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहार में ही मूढ नहीं रहना चाहिए।

गाथा ४१२ पर प्रवचन

कहते हैं कि – चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा आनन्द का रसकन्द है' परन्तु अनादि संसार से लेकर स्वयं की प्रज्ञा के दोष से स्वयं को भूला हुआ है और अनादि से निरन्तर राग-द्वेष में ही स्थित रहा है। पर की क्रिया तो कोई कर ही नही सकता। भाई! स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलकर पर्याय में नये-नये संकल्प-विकल्प करता है। सो वह जीव का स्वयं का ही अपराध है। अतः पर्याय में अनादि से ऐसी भ्रमणा चली आती है। अंतरंग में स्वयं स्वभाव से तो ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा है, वैसा ही है।

अहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु स्वद्रव्य है और राग-द्वेष के भाव, असंख्यात प्रकार के पुण्य-पाप के भाव परद्रव्य हैं। परद्रव्य के लक्ष्य से होने से वे भाव परद्रव्य हैं। बाहर की मिठास की भ्रमणा में जीव स्वयं का

भूलकर परद्रव्यरूप असंख्यात प्रकार के राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भावों में स्थित रहता रहा है। अहा ! स्वयं तो स्वरूप में अमृत का सागर है, परन्तु अपनी प्रज्ञा के दोष से, कर्म के कारण नहीं; बल्कि अपनी ही भूल से स्वयं को भूलकर पुण्य-पाप जहर का प्याला पी रहा है। स्वयं ही उसमें मूर्छित होकर भ्रमणा में पड़ा है।

अहा ! अमाप शक्ति से भरा है भगवान आत्मा अज्ञानी के माप (ज्ञान मे)नहीं आया। अज्ञानी ने अनादि से पुण्य-पाप के भाव में स्थित रहकर शुभाशुभ भाव का जहर पिया है। अरे ! सर्व संसारी जीव अनादि से अपने वैभव को भूलकर पुण्य-पापरूप विषम भाव में ही पड़े हैं।

बापू ! व्यवहार रत्नत्रय का भाव भी विषम भाव है। अधिकांश जीव तो पाप की पोटली का भार ही ढो रहे हैं, कदाचित् कोई वहाँ से हटकर पुण्य भाव में भी आ जाय तो, उससे भी क्या काम ? पुण्यभाव भी राग ही है, दुःख है, जहर है। अहा ! इसप्रकार जीव अनादि से दुःखमय भावों में ही स्थित है। वह अपनी प्रज्ञा का ही अपराध है। ये बड़े-बड़े सेठ, राजा-महाराजा और देवगण भी सभी पूण्य-पाप में स्थित रहते हुए दुःख के समुद्र में ही डूबे हैं भाई ! पुण्य-पाप का भाव और उससे प्राप्त संयोग सब ही दुःख का ही समुद्र है।

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। स्व में रहकर पर को छुए बिना, अनन्त स्व-परपदार्थों को अपने स्व-परप्रकाशकस्वभाव की सामर्थ्य से जाने – ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। अल्पज्ञता आत्मा का स्वरूप नही है। फिर भी कोई किंचित् क्षयोपशम की विशेषता का अभिमान करे तो वह भी दुःख में ही स्थित है, विषमभाव में स्थित है। पढ़ाई का अभिमान भी राग-द्वेष ही है।

भाई ! शास्त्र ज्ञान का अभिमान किया तो जीते जी मर जायेगा। इसप्रकार तो इस जीव ने ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान अनन्तबार प्राप्त किया; परन्तु वह फोकट में ही तो गया। क्या काम हुआ उससे ? उससे तो उल्टा बन्धन होता है।

ध्यान रहे, यह सब जो भी अबतक हुआ वह अपनी ही प्रज्ञा का दोष है, कर्म आदि के कारण नहीं। कदाचित् किसी शास्त्र में कर्म के कारण हुआ – ऐसा लिखा मिल जाये तो ऐसा समझना कि यह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की अपेक्षा किया गया व्यवहार नय का कथन है। वस्तुतः तो अपने को आप भूल के हैरान हो गया, स्वयं को स्वयं ही भूलकर पुण्य-पाप के भावों में मूर्छित हो रहा है। इस कारण प्राप्त दुःख के भाव में स्थित है। इसी का नाम संसार है। स्त्री-कुल-परिवार संसार नहीं है क्योंकि रागादि भावों में स्थित होना ही संसार है, दुःख है।

अब इस परिस्थिति से कुलाट खाने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि – भाई! अब तू अपनी प्रज्ञा के गुण से ही उस रागादि विकार से पीछे हटकर अति निश्चलपने से अपने को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। अहाहा....! ज्ञान की पर्याय को अपने शुद्ध एक ज्ञायक स्वरूप में ले जाकर करके निश्चलपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर। 'अपनी प्रज्ञा के गुण से' इस वाक्य में 'गुण' शब्द का अर्थ है – पर्याय का स्वद्रव्य की ओर झुकना, एक ज्ञायक का स्वभाव की ओर नमना, यही प्रज्ञा का गुण है यही गुण शब्द का अर्थ है।

पहले प्रज्ञा पर सन्मुख थी, वह प्रज्ञा का दोष था। अब जब राग-द्वेष से हटकर, राग-द्वेष का त्याग कर या उपेक्षा कर स्वरूप सन्मुख झुकी – यह प्रज्ञा का गुण है।

प्रश्न :– कर्मोदय का प्रभाव कम हो तभी रागादि कम होंगे न ? किसी कवि ने कहा भी है – 'मोह को तालो लगो है बड़ो'

उत्तर :– भाई! ऐसी बात नहीं है, अपनी प्रज्ञा के दोष से संयोगों में अटका है और अपनी प्रज्ञा के गुण से ही संयोगों से दृष्टि हटकर दृष्टि स्वभाव सन्मुख होती है। इसलिए आचार्य यही कहते हैं कि – अपनी प्रज्ञा के गुण से अपने को अति निश्चलपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर!

अनादि से पर्याय में रागादि अशुद्धता चली आ रही है वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, परन्तु स्वघर में रह रही वस्तु – भगवान आत्मा पूर्णानन्द का

नाथ प्रभु तो त्रिकाल शुद्ध ही है। जहाँ प्रज्ञा की पर्याय को स्वघर में झुकाया नहीं कि तुरन्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाते हैं। इसलिए यहाँ प्रेरणा देते हैं कि – तू उसी में अपनी प्रज्ञा को स्थापित कर; दूसरे रास्तों से पीछे लौटकर अपने को मोक्ष के पन्थ में स्थापित कर दे।

परन्तु अज्ञानी संसारी जीवों को अभी मोक्ष की गरज ही कहाँ है ? स्वतः मोह के वशीभूत हुए ये तो यह भी नहीं सोच सकते कि – हमारा क्या होगा ? यह देह छोड़कर – मरकर हम कहाँ जायेंगे ? इन बातों को सोचने-विचारने की अभी इन्हें गरज ही नहीं है – ऐसा लगता है। इन्द्रियों के विषयों का विष पीकर राजी हैं। परन्तु भाई ! यह देह और ये संयोग कब/कहाँ विनाश को प्राप्त हो जायेंगे ? इसका ध्यान है तुझे ? इसके नष्ट होते ही तेरी क्या दुर्दशा होगी ? कभी सोचा है यह ? कहीं कौआ, कबूतर, कुत्ता, सूअर आदि की किसी योनि में चला जायेगा। तब फिर अनन्त काल तक यह सब सोचने-समझने का अवसर ही नहीं मिलेगा ?

दिन-रात अनन्त प्रतिकूलता के बीच आहार, भय और मैथुन संज्ञा में ही जीवन पर जीवन बीतते जायेंगे। ये बड़े-बड़े अरबपति सेठ क्षणभर में ये हवेलियाँ छोड़-छोड़कर कर कहीं नरक-निगोद में पड़े-पड़े नाली के कीड़ों की भांति बिलबिलाते रहेंगे।

अरे भाई ! तू अनादि अनन्त अमाप-अमाप शक्तियों का सागर प्रभु है। अतः शान्त चित्त से स्वपर के विवेकपूर्वक अपने प्रज्ञा के द्वारा अर्थात् अन्तर्मुख प्रज्ञा की पर्याय द्वारा अमाप का माप (ज्ञान) कर ले। प्रज्ञा के गुण द्वारा तू अपने को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ऐसा स्थापित कर कि फिर यहाँ से कभी विचलित न हो।

अरे ! अनन्त काल में ऐसा मूल्यवान मनुष्य भव मिला है अतः अब धर्म की सही समझ में विलम्ब मत कर ! परलक्ष्य से जो शुभाशुभ भाव होता है, वह संसार है। भले वह 'पर' अरहन्त सिद्ध भगवान भी क्यों न हो। उनके लक्ष्य से हुए शुभभाव भी पुण्यबन्ध के कारण होने से संसार ही हैं और तू अपने अन्दर झांककर देख ! तू या तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की खान है–

इसलिए कहते हैं कि – भाई ! पर में आ रहे उत्साह को छोड़ दो तथा 'निजात्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर दो। उत्साहजनित होने योग्य तेरी वस्तु तेरे अन्दर विद्यमान है, उसमें उत्साह ला ! अहा ! यह समयसार तो भरत क्षेत्र का भगवान है। ऐसी अलौकिक वस्तु अन्यत्र कहीं नहीं है।

अरे भाई ! यह जीव देहादि अनित्य पदार्थों की ममता में उलझ करके देह छोड़कर परलोक में कहीं का कहीं चला जायेगा। ऐसे स्थान में जायेगा जहाँ न तो कोई सगा सम्बन्धी होगा, न कोई सम्बोधन करनेवाला गुरु मिलेगा। न खाने को दाना और न पीने को पानी ही मिलेगा। न पहनने को वस्त्र और न रहने को मकान ही मिलेगा। अरे ! और तो ठीक तुझे कोई जीव (चेतन) मानने को तैयार नहीं होगा। अपने आत्मा को जाने बिना ऐसे महान दुःखों में चला जायेगा। इसलिए हे भव्य ! तू अनित्य (क्षणिक) नाशवान पर-पदार्थों का मोह छोड़ दे और नित्यानन्द ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की रुचि कर ! अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा अपने भगवान आत्मा को संयोगों से हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर।

'प्रज्ञा के गुण द्वारा' का अर्थ है स्वपुरुषार्थ द्वारा अपने आत्मा को आत्मा में स्थापित कर ! 'ही' शब्द से कुछ लोगों को एकान्त सा लगता होगा; परन्तु यह शब्द दृढ़ता का द्योतक है, यह सम्यक् एकान्त है, क्योंकि दूसरी कोई विधि – उपाय है ही नहीं। व्यवहार कथंचित् साधन है – ऐसा जो आपने कहा; परन्तु यह तो कथनमात्र है। आरोप से साधन कहा है, इससे साध्य की सिद्धि नहीं होती। भाई ! तू व्यवहार का पक्ष छोड़ दे।

भाई ! व्यवहार के राग से पुण्यबन्ध अवश्य होगा, उससे जगत राजी हो सकता है परन्तु तेरा आत्मा सुखी नहीं होगा। यदि आत्मा को सुखी करना है तो स्वयं को अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही व्यवहार से स्वतः पीछे हटा कर, व्यवहार का पक्ष छोड़कर निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्र में ऐसा स्थापित कर कि जिससे कभी पीछे न हटे, मोक्ष प्राप्त करके ही रहे।

अब गाथा में आये दूसरे बोल की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं

कि – समस्त अन्य चिन्ताओं का निरोध करके अन्तर में स्व-स्वरूप में एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप एक आत्मा को ध्याओ ! तात्पर्य यह है कि – भगवान शुद्ध चैतन्य ध्रुव आत्मा जो अन्दर में विराजमान है, उसे दृष्टि में लेकर उस एक को ही अग्र करके शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर ! यहाँ पर्याय की अपेक्षा बात कही है, बाकी त्रिकाली शुद्ध द्रव्य को तो ध्याना ही है। राग की और पर की चिन्ता न कर, किन्तु निर्मल रत्नत्रय का ध्यान कर ? – ऐसी पर्याय से बात करते हैं। भाई ! राग का या पर का ध्यान तो अपध्यान है, आर्त-रौद्रध्यान है। वहाँ से हटकर निर्मल रत्नत्रय का ही ध्यान कर !

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का लक्षण कहा है – 'एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्' एकाग्रता पूर्वक चिन्ता का निरोध ध्यान है। यहाँ भी कहते हैं कि – अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध करके एक शुद्ध चैतन्य में एकाग्र होकर उसी में रमणता कर ! अहाहा ! लोक में उत्तम, मंगल और शरण रूप पदार्थ अपना आत्मा ही है। इसलिए पर से छूटकर अपने आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही स्थापित कर ! और उसी का ध्यान कर ! भाई ! ध्यान करना तो तुझे आता ही है। अनादि से संसार का कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान तो तू करता ही रहा है न ! परन्तु ये दुःखमय है। इसलिए अब कहते हैं कि – अब तू स्वरूप का ध्यान कर ! स्वरूप की दृष्टि-ज्ञान रमणता ही स्वरूप का ध्यान है और यह आनन्दकारी है, मंगलकारी है।

अब तीसरे बोल की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि – दया, दान, व्रत, भक्ति के राग भाव रूप कर्मचेतना और हर्ष-शोक के भावरूप कर्मफल चेतना के त्यागभाव के द्वारा ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही चेत ! उसी का अनुभव कर ! तेरा आत्मा जो कि ज्ञायक प्रभु परमात्मा स्वरूप है। उसी में एकाग्र होकर उसी में रमणता कर, शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ही जागृत कर, उसी का अनुभव कर !

अब चौथे बोल का खुलासा करते हैं – देखो, द्रव्य के स्वभाव के आश्रय से क्षण-क्षण में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं।

द्रव्य के स्वभाव के वश से जो परिणाम उत्पन्न होते है, वे निर्मल रत्नत्रय के परिणाम होते हैं। शुद्धद्रव्य के आश्रय से पुण्य-पाप के शुभाशुभ भाव नहीं होते हैं। पुण्य-पाप रूप परिणाम तो पर के निमित्त से होने वाले भाव हैं जो कि दुःखरूप हैं। यहाँ तो द्रव्य को दृष्टि में लिया है, इस कारण द्रव्य का स्वभाव निर्मल भावों से परिणमता है। आत्मा निर्मल रत्नत्रय की परिणति रूप से परिणमित होता है। अतः तू तो इस निर्मल परिणमन के द्वारा तन्मय परिणाम वाला होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर ! पुण्य-पाप के भावों में, दुःख के भावों में विहार मत कर ! तेरे अन्दर ही पूर्णानन्द का नाथ निर्मल आत्मा विद्यमान है, उसके आश्रय से जो क्षण-क्षण में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम होते हैं, उसी में विहार कर ! स्वर्ग व नरकादि चारों ही गतियाँ दुःखरूप हैं, इसलिए पुण्य व पाप में मत विहर ! जो निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्र में विहार करने को कहा, वहाँ भी एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही आलम्बन है, अन्य व्यवहारादि किसी का आलम्बन नहीं है।

समोशरण में बाघ, सिंह वगैरह सैंकड़ों पशु वाणी सुनने आते हैं, स्वर्ग के इन्द्र एवं देवताओं के समूह, श्रावक-श्राविकायें और मुनिवर दिव्यध्वनि सुनने हेतु आते हैं वह वाणी कैसी अलोकिक होगी ? अरे ! भरत क्षेत्र में वर्तमान में भगवान का विरह हो गया है, परन्तु हमारे सौभाग्य से उनकी वाणी बच गई है और हमें प्राप्त भी हो गई है। उस वाणी में भगवान कहते हैं कि – प्रभु! तेरे द्रव्य स्वभाव का तुझे कभी भी विरह नहीं हो सकता तेरे अन्दर ज्ञान-दर्शन-शान्ति और आनन्द का ध्रुव दल पड़ा है। उस एक का ही अचलपने आलम्बन लेकर प्राप्त होनेवाले निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही तू विहार कर! अन्यत्र कहीं भी विहार मत कर! क्योंकि अन्यत्र कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि – अनन्त शक्तियों का एकरूप पिण्ड, ऐसा जो शुद्ध आत्मद्रव्य, उस एक का ही अचलरूप से आलम्बन लेता हुआ समस्त परद्रव्यों में किंचित्मात्र भी विहार मत कर ! व्यवहार का आलम्बन भी मत

कर; क्योंकि वह तो मिथ्यात्व भाव है। व्यवहार का होना जुदी बात है और उसे उपादेय मानकर उसका आलम्बन लेना जुदी बात है।

अरे भाई! तुझे इसीप्रकार के दुःखों में कब तक पड़ा रहना है। अज्ञानी जीव अनन्तकाल में एक समय को भी दुःख से मुक्त नहीं हो पाया है। अनादि से राग रूपी रोग की शैया पर पड़ा-पड़ा दुःख भोग रहा है। सन्त करुणा कर कहते हैं – जाग नाथ ! एकबार जाग!! स्वभाव से तू स्वयं चैतन्य स्वरूप भगवान है, अतः तू अपने उस स्वभाव का आलम्बन ले। निमित्त के, देव-गुरु-शास्त्र के, राग के आलम्बन में मत जा; क्योंकि पर के एवं राग के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। एक ध्रुव ज्ञानस्वरूप आत्मा के आलम्बन से ही धर्म होता है। अरे ! अधिक क्या कहें ? ये निर्मल पर्यायें जो प्रगट होती हैं, इनके आलम्बन से भी नई निर्मल पर्यायें उत्पन्न नहीं हो सकती। बस, एक ध्रुव के ध्यान से ही धर्म होता है।

अहा ! यह ॐ ध्वनि की पुकार है कि – प्रभु! तू एकबार अपने त्रिकाली आनन्द के नाथ का आलम्बन ले। पूजा, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार का आलम्बन तुझे शरणरूप नहीं है, क्योंकि ये सब बन्ध के कारण हैं। अहा ! जैसे पाताल में सदा पानी-पानी रहता है, वैसे ही तेरे ध्रुवस्वभाव के पाताल में अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द भरा है। उस पाताल में प्रवेश करते ही पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द उछलेगा। तू निहाल हो जायेगा, तेरा जीवन धन्य हो जायेगा, अन्तर में विद्यमान ध्रुव को ध्यान का ध्येय बनाने पर धर्म (जैनधर्म) प्रगट होगा। एक ध्रुव के आलम्बन से ही ध्यान होता है – ऐसा ही सम्यक् एकान्त है। एक ध्रुव के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार से नहीं होता – इसका नाम सम्यक् अनेकान्त है।

आगे कहते हैं कि – पुण्य के परिणाम परज्ञेयरूप उपाधिभाव हैं। भाइ ! यदि तू पर की ओर देखे तो तुझे विकल्प रूप उपाधि उठती है। भगवान कहते हैं कि यदि तू मेरी ओर देखेगा तो भी राग ही होगा, उपाधि ही होगी; धर्म नहीं होगा। ज्ञानी को भी व्यवहार के शुभभाव आते हैं, परन्तु वे हैं उपाधि। इसलिए सर्व ओर फैले परद्रव्य में विहार मत कर!

देखो, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-विनय का भाव राग है, व्यवहार है, पंचमहाव्रत का परिणाम, छहकाय की रक्षा का परिणाम, शास्त्र पढ़ने-लिखने का भाव राग है, व्यवहार है। यह सब व्यवहार श्रेयरूप उपाधि है, स्वभाव नहीं है, परद्रव्य है। उसमें जरा भी, किंचित् भी रुचि न ले, उस ओर देख भी नहीं। शुद्ध निश्चय स्वरूप एक ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का ही आलम्बन प्राप्तकर शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र में विहार कर, उसी में उपयोग को केन्द्रित कर!

गाथा ४१२ के भावार्थ पर प्रवचन

परम अर्थ अर्थात् चैतन्य चिन्तामणि रूप परम पदार्थ प्रभु आत्मा ही परमार्थ है। अहो! वैसे तो सम्पूर्ण आत्मायें स्वभाव से परमार्थरूप भगवान ही हैं। यदि इस देह को, राग को और पर्याय को न देखें तो अन्तर में सभी भगवान स्वरूप ही विराजते हैं। यहाँ कहते हैं कि – पुण्य-पाप के परिणाम परमार्थ से आत्मा के परिणाम नहीं हैं। जिन भावों से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, वे भाव भी हेय ही हैं। इसलिए भगवान कहते हैं कि – 'तू मेरी ओर भी मत देख! देखेगा तो तुझे राग ही होगा; क्योंकि मैं परद्रव्य हूँ, मैं तेरा द्रव्य नहीं हूँ' अतः मेरे लक्ष्य से तेरा कल्याण नहीं होगा। यह राग की ही रुचि है न? इसलिए तू अपने चिदानन्द स्वरूप प्रभु की रुचि कर! उसी की दृष्टि कर! उसी में रमणता लीनता कर! बस, यही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही आत्मा को स्थापित कर! उसीका ध्यान कर! उसीका अनुभव कर! उसीमें विहार कर, प्रवर्तन कर! अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन मत कर! – यही परमार्थ से उपदेश है।

यद्यपि धर्मी के बाह्य व्यवहार होता अवश्य है, पर उससे कल्याण होना मानना मूढ़ता है, मिथ्या है। अतः केवल व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना – ऐसा आचार्यदेव इस गाथा द्वारा संदेश दे रहे हैं। ◆

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति।।२४०।।

श्लोकार्थ :– (**दृग्-ज्ञप्ति-आत्मकः यः एषः नियतः मोक्षपथः**) दर्शनज्ञान चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, (**तत्र एव यः स्थितिम् एति**) उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, (**तम् अनिशं ध्यायेत**) उसीका निरन्तर ध्यान करता है, (**तं चेतति**) उसी को चेतता है – उसी का अनुभव करता है, (**च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एवं निरन्तरं विहरति**) और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है, (**सः नित्य-उदयं समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति**) वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

भावार्थ :– निश्चयमोक्षमार्गके सेवनसे अल्प कालमें ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है।।२४०।।

कलश २४० पर प्रवचन

अहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग तो एक ही है, दो नहीं हैं। उसका निरूपण दो प्रकार से है। एक यथार्थ अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग। दूसरा – आरोपित अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग। इसप्रकार मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। मोक्ष का साधन, कारण, उपाय या मार्ग – सब एकार्थ वाची शब्द हैं।

यह देह तो क्षणिक नाशवन्त वस्तु है। वह तो देखते ही देखते क्षणभर में ही छूट जाती है। इसका क्या भरोसा ? इसी देह में विराजमान ध्रुव त्रिकाल नित्य स्थिर रहनेवाला चेतन तत्त्व जो ज्ञान-दर्शन, स्वच्छता, प्रभुता,

आनन्द आदि अनन्त शक्तियों से भरा है, उसको बहिर्मुख लक्ष्य छोड़कर और अन्तर्मुख होकर पकड़ना एवं वहीं रमना-ठहरना मोक्षमार्ग है। भाई ! व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग नहीं है। इसे उपचार से, व्यवहार से आरोपित कथन द्वारा साधन कहा है; किन्तु यह व्यवहार वास्तविक साधन नहीं है।

ये पुण्य के परिणाम मेरे हैं, भले हैं, ऐसा अज्ञानी को जो मिथ्या रस चढ़ गया है, बस यही मिथ्यात्व है। इसका फल निगोद है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का फल मोक्ष है। इस पंचमकाल के ही मुनिराज आचार्य अमृतचन्द कहते हैं कि – जो पुरुष निर्मल रत्नत्रय में स्वयं को स्थापित करके उस रत्नत्रय स्वरूप आत्मा को ही ध्याते हैं, उसका ही अनुभव करते हैं, वे अल्पकाल में अवश्य मुक्ति जायेंगे। अहो ! मुनिराज का अतीन्द्रिय आनन्द के रस का कस चढ़ गया है। अतः वे कहते हैं कि आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुण रस से भरी हुई वस्तु है। इस वस्तु को जिसने अपनी जानी मानी और उसी में जो रमा-ठहरा, वह तीसरे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा। अहा ! पंचमकाल के मुनि कैसे आत्मविश्वास से बात करते हैं कि तीसरे भव में वह मुक्ति को प्राप्त करेगा ही। परम अध्यात्म तरंगिणी में 'अचिरात्' का यह अर्थ किया है।

भगवान आत्मा जगत का सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है इससे बढ़कर लोक में अन्य कुछ भी नहीं है। क्षेत्र भले थोड़ा हो , छोटा हो; परन्तु असीमित-अनन्त शक्तियों का एकरूप चैतन्य महाप्रभु अनन्तगुण ऋद्धियों का भण्डार है। अरे ! अज्ञानी ने एक समय की पर्याय के पीछे निज स्वभाव की सामर्थ्य को कभी देखा नहीं है। एक समय की पर्याय के पीछे दृष्टि करे तो चैतन्य चिन्तामणि निर्मलानन्द का नाथ प्रभु विराजता है। पुण्य की ओर देखना, उसे हितकर मानना तो मिथ्यात्व है।

भाई ! यदि मोक्ष की इच्छा है तो बाहर की चमत्कारी-विस्मयकारी वस्तुओं की ओर देखना छोड़ दे। व्रत-भक्ति आदि व्यवहार की अधिकता और विस्मयता को छोड़ दे तथा अनन्त विस्मयों से भरा भगवान आत्मा जो तू स्वयं है, तेरे ही देह देवालय में विराजता है; उसमें रुचि कर ! रमणता

कर ! वह एक ही मोक्षमार्ग है।

अरे ! लोग व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्पों में अटके हुए हैं, किन्तु वस्तु तो निर्विकल्प है। प्रभु ! तेरे इन विकल्पों द्वारा वह कैसे जानी जा सकती है ? कैसे अनुभव की जा सकती है ? इसलिए तू इन विकल्पों से ऊपर उठकर निर्विकल्प आत्मा का अनुभव करने का प्रयत्न कर ! उसमें से तुझे पर आनन्द की प्राप्ति होगी।

पाँच-पच्चीस लाख की पूंजी हो, उसे देखकर लोग आगे-पीछे फिरें, पत्नी और बेटा-बेटी खुशामद करें, मीठे बोलें तो आदमी प्रसन्न हो जाता है। अनुकूल संयोगो में सुख मानकर उसका मन नाच उठता है; परन्तु भाई ! इसमे तेरा कुछ नहीं है। ये सब तो राग के निमित्त हैं, परद्रव्य है; तुझसे विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्व हैं। उनमें तो तुझे खुशी और कौतूहल होता है तथा अनन्तगुण ऋद्धि से भरे तेरे ही आत्मतत्त्व में तुझे रुचि नहीं, उसे जानने का उत्साह नहीं – यह तेरी कैसी समझ है ? जरा विचार तो कर ! वीतराग परमेश्वर 'आत्मा-आत्मा.........' कहकर तेरे भगवान आत्मा की पुकार करते हैं तो 'तू क्या चीज है ?' स्वयं भी तो समझने का प्रयत्न कर ! अन्दर स्वरूप को एक बार देख तो सही। अन्दर देखते ही तुझे तेरे आत्म स्वभाव के दर्शन होंगे। उसके दर्शन से तुझे अतीन्द्रिय आनन्द होगा। परमानन्द की प्राप्ति का यही एकमात्र मार्ग है।

देखो, इस पंचमकाल के मुनिराज के अन्दर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणमते हैं, किन्तु अभी इस रत्नत्रय की पूर्णता नहीं है। इसकारण इन्हें एक बार स्वर्ग में जाना पड़ेगा। यद्यपि वहाँ देवों का वैभव प्राप्त होगा; परन्तु वे उसे क्लेश अर्थात् दुःख रूप ही देखते हैं। शुभ का फल भी आकुलता रूप ही है न ? प्रवचनसार में तो स्पष्ट कहा है – शुभाशुभ – दोनों भावों का फल दुःख हैं दोनों में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने स्वर्ग के सुख की उपमा अग्नि से खौलते हुए घी से जलने वाले जीव के दुःख से दी है। मूल शब्द इसप्रकार है – **'शिखितप्त घृतवत् सुखं अनुभवन्ति'**।

भाई ! तू स्वयं अन्तर में शान्ति का सागर है, उसमें डुबकी लगा ले,

उपयोग को उसी में डुबा दे। अहाहा.......! तू तो अन्तर में चिन्मात्र चिन्तामणि देवों का देव भगवान महादेव है। वहीं अपनी दृष्टि को केन्द्रित करके उसी में थम जा! तुझे रत्नत्रय प्रगट हो जायेगा, अनाकुल शान्ति का निधान प्रगट हो जायेगा। यही एक मार्ग है, एक शुद्ध निश्चय का लक्ष्य करना ही एकमात्र साधन है। केवल बाह्य साधनों से आत्मा का कल्याण नहीं होगा। समोशरण में साक्षात् सर्वज्ञदेव सीमन्धरनाथ विराजते हैं, उनकी भक्ति का भाव अपनी भूमिका में है; परन्तु वह बन्धन का भाव है, मोक्षमार्ग नहीं। अरे! महा विदेह क्षेत्र की पावन भूमि के कण-कण को अपना जन्मस्थान बना चुका, परन्तु फिर भी ऐसे का ऐसा खाली वापिस आ गया। क्या हुआ? स्वयं द्वारा गूंथे हुए शब्दों के विकल्प जाल रूप व्रत भक्ति आदि के राग-रंग में उलझकर रह गया है। इसी में अपना बहुमूल्य समय लगाकर अपने को धर्मात्मा मानकर बैठ गया है, स्वसन्मुख होने के बजाय पर सन्मुख होकर अपने को धर्म का प्रमुख मानने लगा है। अरे भाई! तू प्रमुख नहीं परमुख हुआ है, जो अनन्त संसार का कारण है। अब परमुख बनना छोड़कर स्व-सन्मुख बन! यही निश्चय मोक्षमार्ग है। जो इसमें स्थित होता है, इसे ही निरन्तर ध्याता है, इसी में चेतता है — इसी का अनुभव करता है; वह पुरुष समय के सार को अल्प समय में ही अवश्य प्राप्त करता है। यहाँ तो प्रगट हुई दशा में अप्रतिहत की ही बात है। यद्यपि यहाँ से स्वर्ग में जाने पर चारित्र तो नहीं रहेगा; किन्तु दर्शन-ज्ञान तो रहेगा ही। उस दर्शन-ज्ञान के बल से अल्पकाल में ही मुनष्यपर्याय पाकर चारित्र की पूर्णता करके मुक्ति को प्राप्त होगा। यद्यपि पंचमकाल में अभी केवलज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञान की रमणता तो अभी वर्तती है न! जिसको ऐसा। स्वसंवेदन ज्ञान प्रकाश में गया कि 'मैं तो मुक्तस्वरूप आत्मा हूँ' उसे पर्याय में, अंश रूप में तो मुक्ति हो ही गई समझो तथा वह अल्पकाल में ही अन्तर के उग्र पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति पायेगा ही।

अहा! पाँच-दस करोड़ की सम्पत्ति हो, रूपवान शरीर हो, युवा अवस्था हो, स्त्री-पुत्र परिवार थोड़े अनुकूल हों, घर में नौकर-चाकर, बंगला-मोटर

गाड़ियाँ हों – बस फिर क्या पूछना ? चढ़ गया मान के शिखर पर। किसी की कुछ बात सुनता ही नहीं है। परन्तु भाई ! यह शरीर तो जलकर खाक में मिल जायेगा। ये संयोग भी सब एकदिन वियोग में बदल जायेंगे। ये तेरी चीजें नहीं है। क्या रावण के बारे में नहीं पढ़ा तुमने ? वह अर्धचक्री था। उसके महल का फर्स रत्नों से जड़ा था। दीवालें स्फटिकमणि से जड़ी थीं। वह ऐसे अपार वैभव के बीच रहता था। किन्तु विपरीत परिणमन के फल में मरकर नरक के संयोग में चला गया। भाई ! जरा विचार तो कर! यह जो अवसर मिला है, यह चूकने लायक नहीं है।

देखो, गाथा में मोक्ष में स्थित होने की प्रेरणा दी है। वही बात यहाँ कलश में कह रहे है कि – 'तत्र एव यः स्थितिम् ऐति' अर्थात् जो उस त्रिकाली भगवान आत्मा में स्थित होते हैं वे शीघ्र ही समयसार को प्राप्त करते हैं। वे उस भगवान आत्मा के आनन्द का अनुभव करते हुए उसी में स्थिर हो जाते हैं और अल्पकाल में परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न :– आप का कहना ठीक है; परन्तु सब क्रमबद्ध है न ? जिसका जब जो होना होगा, तभी होगा न ? अल्पकाल में कैसे हो जायेगा ?

उत्तर :– अरे भाई ! 'सब क्रमबद्ध है' – यह तो आपका कहना यथार्थ है, परन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय उस व्यक्ति ने शुद्ध एक ज्ञायक को देखकर ही किया है न ? जिसको इसका यथार्थ निर्णय होता है, उसकी कर्ताबुद्धि छूट जाती है तथा ज्ञाता भाव की दृष्टि प्रगट हो जाती है। ज्ञायक की दृष्टि होना ही तो पुरुषार्थ है। जगत जनों की नजर पर्याय पर रहती है, इस करण उन्हें क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा-मान्यता नहीं होती सम्यक् पुरुषार्थ नहीं होता। वस्तुतः वे तो नियतवादी मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ चारित्र की बात है। स्वरूप की अन्तर्दृष्टि सहित जिसकी विशेष रमणता-लीनता उसी में हो, उसे ही चारित्रवंत मुनि कहते हैं। ऐसे चारित्रवन्तों को निरन्तर आत्मा का ही ध्यान रहता है। ऐसे मुनियों को प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि – हे मुनि ! तुम निरन्तर उसी आत्मा का

ध्यान करो अर्थात् स्वरूप लीनता से हटो मत। उसी में तृप्त हो जाओ! बाहर के विकल्पों में तो मात्र दुःख का ही वेदन है। ज्ञानमात्र निजस्वरूप में लीन होकर उसी में तृप्त होना परमध्यान है। यह ध्यान ही परमसुख की प्राप्ति का उपाय है।

अब कहते हैं कि जो निजस्वरूप में ही चेतते हैं, उसी का अनुभव करते हैं, वे परमात्मा के रूप को अवश्य प्राप्त करते हैं। अहाहा.........! प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। जो उसके आनन्द की मिठास में रमते हैं और अन्य द्रव्यों का स्पर्श नहीं करते हुए उस आत्मा में ही निरन्तर विहार करते हैं, वे पुरुष शीघ्र ही समय के सार को प्राप्त करते हैं।

भाई! यद्यपि तुझे व्यवहार का पक्ष है, किन्तु व्यवहार की तो दिशा ही पर की ओर है। जो पर की दिशा में अटक जाये-भटक जाये उसे स्व की प्राप्ति कैसे हो? इसलिए कहा है कि – परद्रव्य का स्पर्श किए बिना ही जो पुरुष स्व-स्वभाव में निरन्तर विहार करते हैं वे अवश्य ही समय के सार को अर्थात् प्रगट परमात्म स्वरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं।

चतुर्थकाल में यदि कोई जीव उत्कृष्ट पुरुषार्थ करे तो उसी भव में केवलज्ञान और मोक्ष हो जाता है। किन्तु यहाँ तो पंचमकाल के मुनिराज अपनी बात कर रहे हैं कि – हम यहाँ से स्वर्ग में जायेंगे। वहाँ से चलकर तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त होगा। यह पंचमकाल है, हमारा पुरुषार्थ धीमा है, केवलज्ञान हो और मोक्ष प्राप्त हो – ऐसा पुरुषार्थ अभी नहीं है, किन्तु तीसरे भव में हम जरूर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

अहा! स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और रमणता एक ही साधक भाव है। उसके फल में मोक्ष दशा प्रगट होती है, जिसके रहने का काल अनन्त अनन्त समय है। भगवान आत्मा त्रिकाली शुद्धद्रव्य अनादि-अनन्त है। उसके आश्रय से प्रगट हुई साधक दशा सादि-सान्त असंख्य समय है। उसके फलस्वरूप में प्रगट हुई केवलज्ञान और मोक्ष की दशा सादि-अनन्त है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद किसी को उसी भव में केवलज्ञान और मोक्ष होता है तथा किसी को दो-पाँच या पन्द्रह भव भी लग जाते हैं। तो भी

साधक दशा का काल असंख्य समय ही है। उसमें अनन्त समय नहीं लगता।

अहा! आत्मा अनन्त गुणों का दरिया चैतन्य चमत्कार से भरा है। जिसको उसका श्रद्धान-ज्ञान व रमणता हुई है, उसके संसार का अल्प काल में ही अभाव होकर सादि-अनन्त काल तक रहनेवाला सिद्ध पद प्राप्त हो जाता है, उसका संसार अनादि-सान्त होकर उसे सादि-अनन्त सिद्ध पद प्राप्त हो जाता है। ◆

'जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्ध आत्मा को नहीं जाना' – इसप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं।

यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य संवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा–
प्राग्भारं समयस्य सारमलं नाद्यापि पश्यन्ति ते।।२४१।।

श्लोकार्थ :– (**ये तु ऐनं परिहृत्य संवृत्ति-पथ-प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंगे ममतां वहन्ति**) जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्ग में अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा), (**ते तत्त्वअवबोध-च्युताः अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति**) वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए अभी तक समय के सार को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) नहीं देखते–अनुभव नहीं करते। वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है? (**नित्य-उद्योतम्**) नित्य प्रकाशमान है (अर्थात कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता), (**अखण्ड**) अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त खण्ड नहीं होते), (एकम्) एक है अर्थात

पर्यायों से अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्व को नहीं छोड़ता), (**अतुलं-आलोकं**) अतुल (उपमारहित) प्रकाशवाला है (क्योंकि ज्ञान-प्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश की उपमा नहीं दी जा सकती), (**स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं**) स्वभाव प्रभा का पुंज है (अर्थात् चैतन्यप्रकाश का समूहरूप है), (**अमलं**) अमल है (अर्थात् रागादि-विकाररूपी मल से रहित है) ।

इसप्रकार, जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं उन्हें निश्चय-कारण समयसार का अनुभव नहीं है; तब फिर कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी ।२४१।।

कलश २४१ पर प्रवचन

'जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्धात्मा को जाना ही नहीं है ।' ऐसा कथन करनेवाली गाथाओं की सूचना रूप यह कलश है ।

इसमें कहा है कि – शुद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है । इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर उसका श्रद्धान-ज्ञान व आचरण प्रगट करना परमार्थस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा उसके सहकारी व्रतादि के राग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं ।

यहाँ कहते हैं कि जो पुरुष परमार्थस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को छोड़कर उक्त व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा द्वारा द्रव्यलिंग में ममता करते हैं अर्थात् ऐसा मानते हैं कि – यह द्रव्यलिंग ही हमको मोक्षमार्ग प्राप्त करा देगा । वे यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं करते, उन्हें आत्मा की अनुभूति नहीं होती ।

भाई ! जिसको अन्तर में निजस्वरूप की रुचि रमणतारूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट है, उसे जबतक पूर्णता प्रगट न हो तबतक बाहर में व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि शुभराग होता है । वह शुभराग उपचार से मोक्षमार्ग है – ऐसा स्थापित किया है; किन्तु कोई उसे ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसी आचराण में अटका रहे तो वह यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि है । वह समय के सार अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता । अहा !

जिसप्रकार शराब पीकर कोई पागल हो जाता है, उसी तरह अज्ञानी जीव इस व्यवहार के राग को ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग मानकर मतवाला हो गया है। नाटक समयसार में कहा है न –

'घट-घट अन्तर जिनबसै, घट-घट अन्तर जैन;
मत-मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न।'

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्दर में त्रिकाल जिनस्वरूप है। भाई ! यदि आत्मा अन्दर में जिनस्वरूप न हो तो पर्याय में जिनदेव प्रगट कहाँ से हों ? अहा ! जो अन्दर में है, उसका आश्रय करने पर पर्याय में जिनदेव प्रगट हो जाते हैं। उसका आश्रय करके उसी में जमने-रमने-ठहरने का नाम ही जैनधर्म है। वही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है। ये बाहर का क्रियाकाण्ड जैनधर्म नहीं है। भाई ! ऐसी क्रियाएँ तो अनन्तबार कीं, किन्तु लेशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। छहढाला में कहा है –

'मुनिव्रत धारि अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निजआतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।'

बापू ! ये महाव्रतादि जैनधर्म के सहकारी भले हों; पर ये स्वयं जैनधर्म नहीं हैं, क्योंकि ये तो रागभाव हैं, बन्धन के ही भाव हैं, जबकि जैनधर्म तो वीतराग भाव है, मुक्ति का साक्षात् कारण है।

जिसप्रकार शक्करकन्द के ऊपर की लाल छाल को दूर करो तो अन्दर में अकेला मिठास का ही पिण्ड है; उसीप्रकार भगवान आत्मा को पुण्य-पाप के भाव की छाल से रहित देखो तो अन्दर में अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। उसके सन्मुख होकर उसका ज्ञान-श्रद्धान करना, उसका अनुभव करना और उसी में रमना-जमना, ठहरना मोक्ष का मार्ग है। उसे छोड़कर यदि कोई भ्रम से द्रव्यक्रिया को – द्रव्यलिंग का मोक्षमार्ग मान ले तो वह तत्त्वज्ञान से रहित व्यवहार मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं होता। वह संसार में ही परिभ्रमण करता है।

मूढ़ जीव अध्यात्म के व्यवहार को तो जानता नहीं है और आगम का व्यवहार सुगम होने से उसे ही व्यवहार मान लेता है। अरे ! अन्दर में त्रिकाली

शुद्ध अभेद एक आत्मद्रव्य निश्चय और उसके आश्रय से जो निर्मल निर्विकांर शुद्ध रत्नत्रय की परिणति प्रगट होती है वह व्यवहार है। शुद्ध परिणति ही शुद्ध व्यवहार है। ऐसे शुद्ध निश्चय-व्यवहार को मूढ़ जीव नहीं जानता। बाह्य क्रियाकाण्ड को ही व्यवहार मानता है तथा उसी में मग्न होकर भ्रम से कल्याण मानकर आचरण करता है।

पण्डित कविवर बनारसीदास ने आत्मा की महानता बताते हुए परमार्थ वचनिका में यह बात कही है। जिसप्रकार आकाश का क्षेत्र अमाप-अनंत है, उसीप्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु अमाप-अनंत गुणरत्नों से भरा रत्नाकर है।

अब कहते हैं कि – वह समयसार स्वरूप शुद्धात्मा नित्य उद्योत रूप है कोई प्रतिपक्षी होकर उसकी नित्य प्रकाशमान ज्ञान ज्योति को नष्ट नहीं कर सकता।

अहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का पूर है, नित्यप्रकाश का ध्रुवपण्डि है, किन्तु अज्ञानी ने राग की रमत में अटक कर उसे जाना नहीं, पहचाना नहीं है तथा वह भगवान आत्मा अखण्ड है। उसमें अन्य ज्ञेयों के निमित्त से खण्ड नहीं होते। वह एक है अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्थाओं रूप होकर भी वह अपने एकपने को नहीं छोड़ता।

चाहे जितने ज्ञेयों को जाने, तो भी ज्ञान खण्ड-खण्ड नहीं होता। अहा! भगवान पूर्ण ज्ञानघन प्रभु अखण्ड पदार्थ है, एक है। ज्ञान-दर्शन जैसी अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों रूप परिणमते हुए त्रिकाल एकरूप ज्ञायक रूप ही रहता है। अहा.......! ऐसी अखण्ड एकरूप निजज्ञायक वस्तु का अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है। अहा...! चक्रवर्ती के राजकुमार ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और तत्पश्चात् वे स्वरूप में रमण करने के लिए जंगल में चले जाते हैं। दीक्षा लेने को जाते समय माता से आज्ञा माँगते हैं कि – 'हे माता! मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा दो, स्वीकृति प्रदान करो। मेरे अन्दर में विराजमान भगवान आत्मा मेरे अनुभव में आ गया है। अब मैं पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए जंगल में साधना करने को जाना चाहता हूँ।

यदि मेरे वियोग जनित दुः,ख के कारण तुझे रोना आता हो तो भले रो ले !' किन्तु अब मैं संकल्प करता हूँ कि पुनः किसी अन्य माता को नहीं रुलाऊँगा अर्थात् मैं इसी भव में अजन्मा होकर रहूँगा, इसी भव में जन्म-मरण के जंजाल से मुक्त हो जाऊँगा।

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को निश्चय के साथ व्यवहार रत्नत्रय का राग भी आता है। वह सहज आता ही है, इसकारण उसे सहकारी जानकर उसका स्थापन किया है, किन्तु वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है। वास्तव में तो वह बंध पद्धति ही है। उसे व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग के रूप में स्थापन किया है, निश्चय से वह मोक्षमार्ग नहीं है। यह जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है, फिर भी कोई भ्रम में पड़कर द्रव्यलिंग में ममता करता है तो करो उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

अब कहते हैं कि – वह समयसार 'अतुल अर्थात् उपमा रहित आलोकवाला है, स्वभाव प्रभा का पुंज है, उसमें विभाव की गंध नहीं है। वह भगवान आत्मा अमल है, उसमें रागादि विकार रूप मल नहीं है, पुण्य-पाप के भावों से रहित है – ऐसा राग रहित शुद्ध चैतन्यमय आत्मा जिसकी दृष्टि में नहीं आता, उसे धर्म नहीं होता।

इसप्रकार जो द्रव्यलिंग में ममत्व करता है, उसे जब निश्चय-कारण समयसार का अनुभव ही नहीं तो फिर उसे कार्य समयसार की प्राप्ति कहाँ से हो ? कैसे हो ? नहीं होती।' ◆

अब इसी अर्थ को आगामी गाथा में कहते हैं –

आहाहा! आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय अमृतस्वरूप है, किन्तु अज्ञानी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। इसकारण 'मैं ज्ञान ही हूँ' – ऐसा नहीं जानता, किन्तु 'मैं रागवाला या जहरवाला हूँ' – ऐसा मानता है। इसीकारण वह राग-विकार में स्वरूपपने प्रवर्तन करता है; परन्तु भाई! राग तो जहर है। बापू! जहर पीते-पीते अमृत का स्वाद नहीं आयेगा। राग रोग है और 'राग मेरा है' – ऐसी मिथ्या मान्यता महारोग है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी : प्रवचनरत्नाकर भाग - ३, पृष्ठ - ३४

समयसार गाथा ४१३

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।

कुव्वंति जे ममत्तिं ण णादं समयसारं।।४१३।।

पांषडिलिंगेषु वा गृहलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।

कुर्वंति ये ममत्वं तैन ज्ञातः समयसारः।।४१३।।

ये खलु श्रमणो हं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगमकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढ़व्यवहारमूढ़ाः प्रौढ़विवेकं निश्चयमनारूढ़ाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यन्ति।

बहुभाँतिके मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।

ममता करे, उनने नहीं जाना 'समयके सार' को।।४१३।।

गाथार्थ :– (ये) जो (बहुप्रकारेष) बहुत प्रकारके (पाषंडिलिंगेष वा) मुनिलिंगों में (गृहलिंगेष वा) अथवा गृहस्थलिंगों में (ममत्वं कुर्वंति) ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्ष का दाता है), (तैः समयसारः न ज्ञातः) उन्होंने समयसार को नहीं जाना।

टीका :– जो वास्तवमें 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (–श्रावक) हूँ' इसप्रकार द्रव्यलिंगमें ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (–निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य (जो परमार्थसे सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसारको नहीं देखते-अनुभव नहीं करते।

भावार्थ :– अनादिकालीन परद्रव्यके संयोगसे होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष विमूढ़ मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चयको वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसारको नहीं देखते।

गाथा ४१३ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य कहते हैं कि – दिगम्बर मुनि का भेष धारण करके पंचमहाव्रत आदि २८ मूल गुणों का पालन करते हुए भी यदि ऐसा माने कि – 'मैं श्रमण हूँ, मुनि हूँ।' इसतरह द्रव्यलिंग में मिथ्या अहंकार करे वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वीतराग का मार्ग तो चैतन्य के वीतरागी परिणाम से उत्पन्न होता है, राग से उत्पन्न नहीं होता। २८ मूलगुण पालन करने का भाव तो शुभराग है। जो शुभ राग करके साधु होना मानता है, वह यथार्थ मुनि नहीं है।

इसीप्रकार कोई व्रती श्रावक का नाम धराकर १२ व्रतों का पालन करे। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभ राग में प्रवृत्ति करे और स्वयं व्रती श्रावक माने तो वह भी भारी भूल में है। उसे भी भगवान आत्मा के वीतरागी धर्म की खबर नहीं है।

अरे! जिसको स्व-पर का अन्तर-विवेक जगा हो और जो राग से मुक्त होकर स्वरूप में रमता है उसे श्रावक कहते हैं तथा मुनि दशा तो इससे भी अधिक ऊँची प्रचुर आनन्दमय वीतरागी दशा है।

अहाहा—! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दरस का, चैतन्य रस का कन्द प्रभु है। जो अन्तर्मुख होकर उस आत्मा को तो जानता-अनुभवता नहीं है और व्यवहार के क्रियाकांड में अपना हित मानता है, उस क्रियाकाण्ड के पालन में ही धर्म मानता है, मुनिपना एवं श्रावकपना मानता है, वह अनादिरूढ़ व्यवहारमूढ़ है। अरे! शुभभाव का व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है, अनन्त बार किया है। इसमें नवीनता क्या है? शुभ-अशुभ भाव तो निगोद के जीव भी निरन्तर करते हैं। अरे! अन्दर में जो आनन्द स्वरूप महाचैतन्यप्रभु विराजता है, उसके पक्ष में न जाकर राग के पक्ष में रुककर इस अज्ञानी जीव ने चैतन्य के पक्ष का घात किया है। मानो उसे पक्षाघात (लकवा) का रोग हो गया है।

नियमसार के कलश १२१ में कहा है कि – जो मोक्ष का कथनमात्र कारण है – ऐसे व्यवहार रत्नत्रय से भवसागर में डूबे हुये जीवों को स्वरूप

की प्राप्ति नहीं होंती।

देखो, पाप का परिणाम तो दुर्गति का कारण है ही, पुण्य का परिणाम भी दुर्गति का ही कारण है; क्योंकि इससे आत्मा का धर्म नहीं मिलता तथा शुभभाव को हित रूप मानना तो मिथ्यात्व है, जो कि अनन्त संसार का मूल है। भाई ! मिथ्यात्व का अंश भी बुरा है। अज्ञानी जीव व्यवहारमूढ़ अनादिरूढ़ रहकर प्रौढ़ विवेकयुक्त निश्चय पर अनारूढ वर्तता है। इस कारण उसको प्रौढ़ विवेकयुक्त निश्चय प्रगट नहीं होता।

देखो, हम जन्मजात जैन हैं न! इसकारण हम मांस-मदिरा का सेवन नहीं करते। अतः नरक तो जायेंगे नहीं। स्वाध्याय, दान-भक्ति आदि शुभ का कोई ठिकाना नहीं है, अतः स्वर्ग व मनुष्य गति मिलना भी संभव नहीं है। विषयों की तीव्रलोलुपता के कारण अनेक प्रकार के पापाचार द्वारा विषय संग्रह और उनके भोगोपयोग के अशुभ भाव में ही समय बीत रहा है। इससे तिर्यंचगति में ही जायेंगे।

अरे भाई! शुक्ल लेश्या पर्यंत के शुभभाव तो अभव्य को भी हो जाते हैं; किन्तु उनके सहित भी वह दुःखी ही है। अनादि से अज्ञानी जीवों को यह हठ है कि, यह दया-दान, व्रत-भक्ति आदि व्यवहार के भावों से मुक्ति होगी। वह व्यवहाररूपी घोड़े पर आरूढ़ हुआ है। राग में आरूढ़ हुआ वह निजचैतन्य पद पर अनारूढ़ है। अहा ! ऐसा व्यवहारमूढ़ जीव परमार्थ सत्यभगवान समयसार को नहीं देखता।

प्रश्न :– धर्मी जीवों को अर्थात् श्रावक व मुनि को व्रतादि का शुभराग तो होता है न ?

समाधान :– हाँ, होता है; क्योंकि धर्मी जबतक पूर्णरूप से स्वभाव पर आरूढ़ नहीं हो पाता, तबतक यथासंभव व्रतादि का शुभराग होता है; किन्तु उसे वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं मानता। भाई ! जो शुभराग आता है, उसको वह मात्र जानता है।

प्रवचनसार में कहा है कि – 'शुभ या अशुभ में – दोनों में कोई अन्तर नहीं है।' जो ऐसा नहीं मानता अर्थात् जो दोनों में अन्तर करता है, वह

मोह से मूर्छित होता हुआ अपार घोर संसारसागर में डूबा हुआ है। भाई ! शुभ और अशुभ – दोनों ही जगपन्थ हैं।

प्रश्न :– आप का कहना सही है, परंतु ब्रह्मचर्य से तो रहना ही चाहिए न ?

समाधान :– बापू ! ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ? जानते हो ? ब्रह्म नाम आत्मा-शुद्ध चिदानन्द चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा के स्वरूप में चर्य अर्थात् रमण करना। इसप्रकार शुद्ध चैतन्य आत्मा में रमण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करने का विकल्प तो शुभ भाव है। इससे पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं होता। इससे धर्म होना माने तो इस मान्यता में मिथ्यात्व का महापाप है।

अरे! कभी-कभी यह अज्ञानी जीव सांसारिक झंझटो से घबराकर उनसे निवृत्त हो जाता है, कुटुम्ब-परिवार की जिम्मेदारी से परेशान होकर उन्हें छोड़ देता है तथा शुभभाव एवं शुभभावों के निमित्तों का सहारा लेकर ऐसा मान लेता है कि इनसे मेरा कल्याण हो जायेगा परन्तु भाई ! मोक्षपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि – 'परदव्वाओ दुग्गइ' अर्थात् अपने परमानन्द स्वरूप भगवान आत्मा के सिवाय – कुटुम्ब परिवार या देव-शास्त्र-गुरु की ओर के लक्ष्य से हुआ रागादि सब दुर्गति है। वह आत्मा की या चैतन्य की गति नहीं है। यद्यपि शुभभावों से देवगति मिलती है; परन्तु वह भी दुर्गति है। जिसभाव से संसार की गति मिले, वह भाव ही दुर्गति है और वह गति भी दुर्गति है।

नग्नदशा महाव्रत-व्रतादि रूप २८ मूलगुणों की सभी क्रियाओं के पालने में शुभभाव हैं। इसमें कोई ऐसा माने कि – 'यह मेरा धर्म और यह मेरा मुनिपना है', उससे आचार्य कहते हैं कि – प्रभु ! तू एक बार सुन तो सही ! तू गलत रास्ते भटक गया है। यह आत्मा के हित का मार्ग नहीं है। यहाँ तीन बोल कहे हैं – १. अनादिरूढ़, २. व्यवहारमूढ़ और ३. निश्चयस्वभाव में अनारूढ़। अहो ! यह तो इस गाथा में अकेला मक्खन ही मक्खन भरा है। परन्तु यह किसी भाग्यवान को ही प्राप्त होता है। देखो, गुजराती में एक

पद्य है –

गगन मण्डल मां गौआ विहाणी, वसुधा दूध जमाया;
माखन था सो बिरला ने पाया, जग छांछे भरमाया सन्तो-

इसका तात्पर्य यह है कि – समोशरण में भगवान अन्तरिक्ष में विराजते हैं, उनके सर्वांग से ऊँकार ध्वनि निकलती है। भव्यों के कान में वह वाणी पड़ती है, उस वाणी में से चैतन्यतत्त्व का मक्खन निकला है। वह किसी-किसी विरले भाग्यवान निकटभव्यों के समझ में ही आती है, शेष जन समूह या प्राणी समूह तो व्यवहार धर्म की छांछ में ही भरमा जाता है, सन्तुष्ट हो जाता है।

भाई ! तुझे खबर नहीं है। इस शुभराग से भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। इस शुभभाव में भव के अभाव करने की सामर्थ्य नहीं है। स्व-स्वरूप का अनुभव किए बिना शुभाशुभ हुआ ही करता है और उससे चौरासी के चक्कर का फल हुआ ही करता है। अहो ! सन्तों के हृदय में तो अतीन्द्रिय आनन्दरस का झरना झरता ही रहता है। अतीन्द्रियरस के संवेदन बिना मात्र क्रियाकाण्ड से और बाह्य भेष से कोई यह माने कि 'मैं श्रमण हूँ' तो वह झूठा है। वे व्यवहार विमूढ़ और निश्चय अनारूढ़ परमार्थ पद को प्राप्त नहीं करते।

अहो ! सम्वत् १९७८ में यह समयसार शास्त्र हाथ लगा था। इसे पढ़कर ऐसा लगा कि – यह क्रियाकाण्ड और बाह्य भेष सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। राग से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही मोक्ष का उपाय है और वही धर्म है।

देखो, यहाँ यह जो कहा गया, उसका अर्थ ऐसा नहीं करना कि शुभ को छुड़ाकर अशुभ में जाने को कहा जा रहा है या स्वच्छन्द होने को कहा जा रहा है। यहाँ तो मात्र इतना ग्रहण करना कि – शुभभाव मोक्ष का उपाय नहीं है – ऐसा जानकर शुभ का लक्ष्य छोड़कर अन्तर स्वभाव में दृष्टि करना और उसी में लीन होकर प्रवर्तन करना। बस, यही एकमात्र मोक्ष का उपाय है।

भगवान आत्मा त्रिकालशुद्ध एक ज्ञायकस्वरूप है, बाह्य व्रतादिक का भेष आत्मा का भेष नहीं है। ये सब तो परद्रव्य के संयोग से हुए भाव हैं। व्रत, तप, दान, भक्ति-पूजा आदि के भाव – ये सभी परद्रव्य के संयोग से हुए संयोगी भाव हैं। जो मूढ़जीव इन्हीं में तन्मय हैं, इन्हें ही धर्म मानकर बैठे हैं, वे मानते हैं कि – ये बाह्य व्रतादिक भाव ही मोक्ष प्राप्त करायेंगे, किन्तु बात यथार्थ नहीं हैं; क्योंकि ये भाव बन्धरूप हैं; दुःखरूप हैं; तथा चैतन्यमय नहीं हैं, अचेतन हैं। वे भेदज्ञान के कारणभूत निश्चय को तो जानते ही नहीं हैं।

अहो! आत्मा के अन्तर्सन्मुख होकर देखें तो अन्दर में तो स्वयं आत्मा त्रिकाली एक ज्ञायक चैतन्य के आनन्द का पूर प्रभु है। अहा! ऐसी निजवस्तु की अन्तर्दृष्टि द्वारा उसके आश्रय से जो प्रचुर आनन्द की दशा प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है और जो पूर्ण आनन्द की दशा प्रगट होती है, वह मोक्ष है। किन्तु इस जीव ने अबतक अन्तर्दृष्टि नहीं की, परद्रव्य के आश्रय से ही परिणमता रहा है, वहाँ जो अव्रत का परिणाम होता है, वह पाप है और जो व्रत के परिणाम होते हैं, वे पुण्य भाव हैं। अज्ञानी उन पुण्य भावों में मूर्छित होकर ऐसा मान लेता है कि इनसे मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। जिस भेदाभ्यास से मुक्ति की प्राप्ति होती है, उसे जानता नहीं है और जानने की गरज भी नहीं है, इस कारण बहिरात्मदृष्टि नहीं छूटती तथा सत्यार्थस्वरूप निज समयसार को प्राप्त नहीं कर पाता।

अहा! राग की क्रियायें तो अज्ञानी जीव अनादि काल से करता आया है। अव्रत के पापरूप परिणाम तो अनादि से किए ही है, व्रत के पुण्य भाव भी अनादि से अनन्त बार किए हैं। उसमें नया क्या है ? कुछ भी नहीं। वे सब पुण्य और पाप के विकारी – संयोगीभाव बन्ध पद्धति है, मोक्षपद्धति नहीं है। इसकारण तो शुभभाव अनन्तबार करके भी चतुर्गति का परिणाम उत्पन्न हुआ है। बस, इसी कारण तो तू अनन्तकाल से चौरासी के अवतार में जन्म-मरण करता रहा है। तू जो यह मानता है कि ये शुभ भाव मुझे मोक्ष की प्राप्ति करा देंगे सो तेरी यह मान्यता ठीक नहीं है। इसलिए यदि तुझे

सचमुच मोक्ष की इच्छा है तो अन्तर्मुख दृष्टि करके भेदज्ञान कर ! अन्तर्मुख दृष्टि से ही भेदज्ञान होता है तथा भेदज्ञान से ही अन्दर में विद्यमान शुद्ध निश्चय परमार्थ वस्तु का अनुभव होता है। इसी का नाम धर्म एवं मोक्ष का उपाय है। अनादि कालीन भव भ्रमण मिटाने का भी एकमात्र यही उपाय है।

इसके सिवाय शुभराग की क्रियाओं में धर्म माननेवाला व्यवहार में विमोहित पुरुष अनेकप्रकार के क्रियाकाण्ड आचरते हुए भी शुद्धज्ञानमय निज समयसार को देखता नहीं है, अनुभवता नहीं है। ◆

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमाथ कलयंति ना जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुष न तंडुलम्॥२४२॥

श्लोकार्थ :– (व्यवहार-विमूढ-दृष्टयः जनाः परमाथ ना कलयन्ति) जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहारमें ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थको नहीं जानते, (**इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः-तुषं-कलयन्ति-न-तण्डुलम्**) जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुषके ज्ञानमें ही मोहित है (–मोहको प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुषको ही जानते हैं, तंदुल (–चावल) को नहीं जानते।

भावार्थ :– जो धानके छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हींको कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलों को जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहारमें मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादिकी क्रियामें ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थको जाना ही नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्माके स्वरूपको जानते ही नहीं।।२४२।।

कलश २४२ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यह संसारी जीवों के लौकिक व्यवहार की बात नहीं है। लौकिक व्यवहार तो अकेला पापरूप ही है। यहाँ तो धर्मी पुरुषों के व्यवहार में जो महाव्रतादि का व्यवहार-राग होता है उसकी बात है। उस संदर्भ कहते हैं

कि – धर्म के नाम पर होनेवाले महाव्रतादि के व्यवहार में जिनकी बुद्धि विमोहित है, वे वस्तुतः परमार्थ को नहीं जानते, वे चैतन्यमूर्ति निजस्वरूप को नहीं पहचानते। बेचारे व्यवहार क्रियाकाण्ड के फन्द में ही फंसे रहते हैं। उन्हें निजस्वरूप के अनुभव के रस का स्वाद प्राप्त नहीं होता। वे जीव अपनी साधिक दो हजार सागर की त्रस पर्याय की स्थिति पूरी करके पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में (निगोद की पर्याय) चला जाता है। त्रस पर्याय दो हजार सागर में भी अज्ञानी जीव कौआ, कुत्ता, कीड़ा-मकोड़ा, चींटी-चींटा, मक्खी-मच्छर आदि की दशा में ही अधिक समय बिताकर निगोद चला जाता है।

जिसप्रकार जगत में तुष के ज्ञान में ही जिनकी बुद्धि मोहित है, वे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तंदुल को नहीं जानते।

दोहा पाहुड़ में भी आया है न!

'पंडिय पंडिय पंडिय कण छोड़ि वितुस कंडिया।'

हे पाण्डे! हे पाण्डे! हे पाण्डे! तू कण को छोड़कर मात्र तुष को ही कूटता है। तू परमार्थ नहीं जानता, इसलिए तू मूढ ही है। अहा! जो परमार्थ को नहीं जानते, वे छिलके के समान बाह्य व्रतादि में मोहित रहते हैं।

भावार्थ यह है कि – महाव्रत के परिणाम को तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव कहा है। वे भाव दुःख रूप हैं। मोक्ष अधिकार में उसे ही विषकुम्भ कहा है। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि पाप के भाव तो महादुःख रूप हैं ही; परन्तु महाव्रतादि के शुभ परिणाम भी जहर का घड़ा है। उनसे भिन्न अन्दर चैतन्यघन स्वरूप भगवान आत्मा अमृतकुम्भ है। अतीन्द्रिय आनन्दरस के रसिक पुरुष उसके अनुभवरस का पान करते हैं। परन्तु व्यवहार में मुग्ध जीवों को अन्तर दशा की खबर नहीं है। वे बाहर की शरीर की क्रियायें देखकर उन शरीर की क्रियाओं में ही ममत्व धारण करते हैं। अरे! उन्हें परमार्थस्वरूप निजशुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं है। जिसतरह जिन्हें तंदुल की खबर नहीं है, वे छिलकों को ही कूटते रहते हैं, उसीतरह अज्ञानी जीव

मात्र बाह्य क्रियाओं में ही अटके रहते हैं।

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं –

(स्वागता)

द्रव्यलिंगममकारमीलितै-
र्दृश्यत समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो
ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४३।।

श्लोकार्थ :– (**द्रव्यलिंग-ममकार-मीलितैः समयसारः एव न दृश्यते**) जो द्रव्यलिंगमें ममकारके द्वारा अंध-विवेक रहित हैं, वे समयसार को नहीं देखते; (**यत् इह द्रव्यलिंगम् किल अन्यतः**) कारण कि इस जगतमें द्रव्यलिंग तो वास्तवमें अन्य द्रव्यसे होता है, (**इदम् ज्ञानम् एव हि एकम् स्वतः**) मात्र यह ज्ञान ही निजसे (आत्मद्रव्यसे) होता है।

भावार्थ :– जो द्रव्यलिंगमें ममत्वके द्वारा अंध हैं उन्हें शुद्धात्मद्रव्यका अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहारको ही परमार्थ मानते हैं इसलिए परद्रव्यको ही आत्म-द्रव्य मानते हैं।।२४३।।

कला २४३ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

अहा! एक समय में तीनलोक व तीनकाल को जानने वाले भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में सिंहनाद हुआ कि – भगवान! तू निश्चय से परमात्मस्वरूप है, जो परमात्मा की जाति है, वही तेरी जाति है। जिसतरह परमात्मा की सर्वज्ञता, उनका ज्ञान केवलज्ञान रूप प्रगट पर्याय में है, उसीतरह स्वभाव से तेरे अन्दर भी सर्वज्ञत्व शक्ति, सर्वदर्शित्व शक्ति विद्यमान है। तेरा भी सर्वज्ञ स्वभाव है और तू भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट कर सकता है।

इसके विपरीत दया-दान, व्रत-भक्ति आदि के परिणाम राग है, अन्यद्रव्य है, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसा होते हुए भी दया-दान-व्रत आदि परिणामों से धर्म होना मानना सही नहीं है। ऐसा मानने वाले मूढ़ हैं।

अरे भाई! तू कौन है ? इसका विचार तो कर ! आचार्य कहते हैं कि – तू तो अनन्त और असीम ज्ञान व आनन्द स्वभावी भगवान आत्मा है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभाव को तू अपने स्व-संवेदन ज्ञान में जाने – ऐसा तेरा स्वरूप है। यदि तू अन्यद्रव्यमय क्रियाकाण्ड से आत्मलाभ होना माने तो यह तेरा अज्ञान है, अन्धपना है, अविवेक है। बाह्य लिंग में ममकार करनेवाला निजात्म स्वरूप को नहीं देखता। वस्तुतः तो राग आत्मा को छूता ही नहीं है; तथापि राग की क्रिया से लाभ होना माननेवाला अज्ञानी है, अंधा है, विवेक रहित है। बाह्यलिंग में ममकार करनेवाला निज आत्मस्वरूप को नहीं देखता। आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखे तो राग भगवान आत्मा का स्पर्श ही नहीं करता।

अब कहते हैं कि – अधिकांश जन तो अशुभ में अर्थात् दुकान-धंधे में एवं इन्द्रियों के विषयों में ही पड़े हैं। भाई! इसमें तो भारी नुकसान है। यह तो घाटे का ही धंधा है। इस प्रवृत्ति से शीघ्र निर्वृत्त हो जाओ ! प्रभु ! तुम ज्ञान और आनन्द के धाम हो। उसका तो तुम विश्वास न करो और दया-दान-व्रत आदि क्रिया से धर्म हो जायेगा – ऐसा मानो तो यह बात अविवेकपूर्ण है। शास्त्र में ऐसे लोगों को रंक बिचारा कहा है।

अरे भाई ! यह देह तो छूट जायेगी और तू कहाँ जायेगा ? इसका विचार कर ! तुझे तो अपने कल्याण की फिक्र ही नहीं है। तू बाह्य क्रियायें कर-करके जो अपना जीवन गवां रहा है, इसका फल संसार ही है। ये शुभराग की क्रियायें तो परद्रव्य के संयोग से हुई उपाधि है, यदि तू इसमें ममकार करता है, तो इसका अर्थ यह है कि तू अपने स्वरूप से इन्कार करता है और जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना मानता है। इस द्रव्य लिंग में ममकार होने से तू अंधा हो रहा है। तूने ज्ञानानन्द स्वरूपी अपनी भगवान आत्मा को देखने के नेत्र बन्द कर रखे हैं। जैनकुल में जन्म लेकर भी तुझे जिनेन्द्रदेव के कहे तत्त्व की खबर नहीं है। अपनी मति-कल्पना से द्रव्यलिंग से धर्म होना मानता है। यह कैसी विडम्बना है। आचार्य कहते हैं कि ऐसे लोग समयसार को देखते नहीं है।

'समयसार' अर्थात् शरीर, कर्म एवं रागादि से रहित मात्र चैतन्य का ध्रुव दल – इसका नाम समयसार है। राग के रसिक राग रहित भगवान आत्मा को कैसे देखें ?

अरे ! ये सब सेठ लोग बाहर के ठाट-बाट में अटके हुए हैं। इन विचारों को समयसार स्वरूप भगवान आत्मा को समझने विचार करने का समय ही कहाँ है ? पाँच-दस करोड़ की धूल-धानी इकट्ठी हुई नहीं कि चढ़ जाते हैं मान के शिखर पर। फिर क्या ? 'मैं चौड़ा और सड़क सकरी' समझकर अकड़ने लगते हैं। सचमुच ये सब पागल हो गये हैं, पागल। अन्दर में जो अनन्त चैतन्य लक्ष्मी का भंडार भगवान समयसार विद्यमान है, उसे तो देखते नहीं और विषय के रस में रम रहे हैं।

अरे ! स्वयं सिंह का बच्चा होकर बकरों के झुण्ड में जाकर अपने को बकरा समझने लगा है। ऐसे अज्ञानी जीवों को समझाते हुए आचार्य कहते है – 'तू बकरा नहीं, सिंह है' – सिंह ! अनन्त वीर्य का स्वामी भगवान चैतन्य सिंह है। तू अन्तर्दृष्टि रूप गर्जना करके देख ! तुझे विश्वास हो जायेगा कि तू सचमुच चैतन्यसिंह है ? ऐसा विश्वास होने पर तेरी भगवान समयसार स्वरूप आत्मा से भेंट हो जायेगी। अर्थात् तू पर्याय में पूर्ण वीर्य का स्वामी हो जायेगा।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप के परिणाम तो बहुत दूर की बात है। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रत के शुभ भाव भी चैतन्यस्वभाव से विपरीत भाव हैं। जो इन पाँचों व्रतों में ममकार करके इन्हें अपना अस्तित्व माने, वह निज समयसार को नहीं जानता जिसमें आनन्द का अनुभव हो वह 'मम' अर्थात् मेरा भोजन है। सन्त कहते हैं कि – तू अपने नित्यानन्द स्वभाव का अन्तर्मुख होकर अनुभव कर ! वह तेरा 'मम' है।

भाई! निराकुल आनन्द की अधूरी दशा साधन और पूर्ण दशा साध्य है। सम्पूर्ण सुविधा तेरे अन्दर ही विद्यमान है। बाहर में राग के कण और शरीर के रजंकणों से तेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भगवान ! तू रागरूप नहीं है, तू तो ज्ञान व आनन्द स्वरूप है। भाई ! तू व्रत, तप और पूजा-भक्ति आदि कर-करके जो तू धर्म माने बैठा है, यह वस्तुतः धर्म नहीं है, क्योंकि ये स्व-द्रव्य ही नहीं है, ये तो अन्य द्रव्य हैं। तेरा स्वद्रव्य तो बेहद वीतराग स्वभाव से भरा आनन्दकन्द आकुल शान्तरस-चैतन्यरस का पिण्ड है। उसी स्व-द्रव्य के सन्मुख होकर जानना, मानना, श्रद्धा करना और उसी में लीन होना धर्म है, मोक्षमार्ग है।

अरे ! तू करने योग्य कार्य तो करता नहीं है और न करने योग्य कार्य करने में अटक गया है। तू एकबार सुन तो सही ! यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि – जगत में द्रव्यलिंग वस्तुतः परद्रव्य से होता है। यह ज्ञान ही एक अपने से – आत्मद्रव्य से होता है। भाई ! तुझे आत्मा की शान्ति खोना हो, चारगति में रखड़ना हो तो राग के क्षेत्र में जा !

अहा ! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अहा ! ज्ञान की ज्ञान-श्रद्धान-आचरणरूप से परिणति होना ही एकमात्र साधन है तथा इनकी पूर्णता इनका फल है। बीच में व्यवहार द्रव्यलिंग भी आता अवश्य है; परन्तु वह साधन नहीं है। व्यवहार तरीके जो व्यवहार साधक दशा में होता है, उसे जाने-माने नहीं तो उसका ज्ञान मिथ्या है और व्यवहार को वास्तविक साधन जाने-माने तो उसका श्रद्धान मिथ्या है। व्यवहार बीच में आता अवश्य है, परन्तु वह हेय है, बन्ध का कारण है। मुनिराज उस व्यवहार को हेयपने ही जानते हैं और पुरुषार्थ की धारा उग्र करते हुए उसे हेय करते जाते हैं। जिसका अभाव करना हो, वह साधन कैसे हो सकता है ? वह आदरणीय कैसे हो सकता है ? अतः 'व्यवहार है' बस इतना ही मानो ! वह हितकर है – यह मान्यता छोड़ दो तथा इनसे 'धर्म होता है' यह बात मानना भी छोड़ दो।

अहाहा---! आत्मा ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक स्वभाव का पिण्ड है। आत्मा का ज्ञान-दर्शन-रमणता ही आत्मा की ज्ञान क्रिया है। यह ज्ञान एक अपने से होता है।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल रत्नत्रय रूप परिणति होना – बस, यह एक ही स्वद्रव्य से होता है। राग व क्रियाकाण्ड तो परद्रव्य से होता है, यह परद्रव्य ही है। यह राग तो स्वद्रव्य को छूता तक नहीं है।

अहाहा—! भगवान ! तू अन्दर पूर्ण शुद्ध ज्ञानमात्र चिन्मात्र वस्तु परमात्मा है। अल्पज्ञता और विपरीतता तेरा स्वरूप नहीं है। वह रागादि अज्ञानवश पर्याय में उत्पन्न हुए हैं। उसे तू भूल जा ! गौण कर दे ! और नक्की कर कि आत्मज्ञान एक स्व-द्रव्य से ही होता है। अहा ! ज्ञानस्वरूप होना, निर्मलरत्नत्रयरूप होना बस एक आत्मस्वरूप ही है। आत्मवस्तु अन्दर में कारण परमात्मा स्वरूप है। उस कारण परमात्मा के आश्रय से उसका जो निर्मल परिणमन रूप कार्य हुआ, वह कार्य परमात्मा है। मात्र यह ज्ञान ही एक आत्मा से अर्थात् निज से होता है।

अहाहा—! आनन्द का नाथ अन्दर में पूर्णस्वरूप है। मात्र पर्याय जितना ही इसका अस्तित्व नहीं है। मोक्ष की पर्याय जितना भी यह नहीं है। यह तो पूर्ण चिदानन्दघन परमात्मा है। प्रभु ! उस श्रद्धान और ज्ञान का होना ही ज्ञानस्वरूप आत्मा का होना है। राग तो अन्यद्रव्य का परिणमन है और ज्ञान के होने के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यदि मोक्ष की इच्छा है तो व्यवहार के क्रियाकाण्ड से धर्म होना-मानना छोड़ दे।

◆

'व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंग को – दोनों को मोक्षमार्ग कहता है, निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता' – यह आगामी गाथा में कहेंगे।

शकरकन्दवत् आत्मा आनन्दकन्द है

जैसे शकरकन्द के ऊपर की छाल शकरकन्द नहीं है। छाल को निकालने पर अन्दर जो मिठास का पिण्ड है, वह शकरकन्द है।

उसीप्रकार भगवान आत्मा में जो शुभाशुभ होते हैं, वे ऊपर की छालवत् है, वे आत्मा नहीं हैं। शुभाशुभभाव से भिन्न अन्दर जो आनन्दकन्द, प्रभु विराजता है, वह आत्मा है। शुभाशुभभाव का लक्ष्य छोड़कर अंन्तर्दृष्टि करने पर जो आत्मानुभूति प्रगट होती है – वही सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी : प्रवचनरत्नाकर भाग – ४, गाथा १०२

समयसार गाथा ४१४

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

व्यावहारिक: पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि।।४१४।।

य: खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंग भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकार: स केवल व्यवहार एव, न परमार्थ:, तस्य स्वयमशुद्ध-द्रव्यानुभवनात्मकत्व सति परमार्थत्वाभवात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासक विकल्पातिक्रान्त दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसचेतनं परमार्थ:, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वं सति परमार्थत्वात्। ततो य व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयंते, तं समयसारमेव न संचेतयंते; य एव परमार्थ परमार्थबुद्धया चेतयंते, तं समयसारं चेतयंते।

व्यवहारनय, इन लिंग द्वयको मोक्षके पथमें कहे।
निश्चय नहीं मान कभी को लिंग मुक्तीपंथमें।।४१४।।

गाथार्थ :– (व्यावहारिक: नय: पुन:) व्यवहारनय (द्वे लिंगे अपि) दोनों लिंगों को (मोक्षपथे भणति) मोक्षमार्ग में कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग को मोक्षमार्ग कहता है); (निश्चयनय:) निश्चयनय (सर्वलिंगानि) सभी (किसी भी) लिंगों को (मोक्षपथे न इच्छति) मोक्षमार्ग में नहीं मानता।

टीका :– श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं – इसप्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इसप्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है इसलिए उसको परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रान्त, दर्शनज्ञान में प्रवृत्तपरिणति मात्र (मात्र दर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित हुई परिणतिरूप) शुद्ध

ज्ञान ही एक है – ऐसा जो निस्तुष (–निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है। इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (–परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भावार्थ :– व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिए वही परमार्थ है। इसलिए जो व्यवहार को निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को मानकर प्रवर्तन करते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं (इसलिए वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं)।

गाथा ४१४ पर प्रवचन

देखो, कहते हैं कि – श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार का द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है – ऐसी जो प्ररूपणा है वह मात्र व्यवहारनय से है, परमार्थ नहीं। मुनिदशा में जो व्रत-तप-भक्ति आदि विकल्प और नग्नदशा है, वह सहचारीपने के कारण है, उसे व्यवहार कहा है, वह व्यवहार पने व्यवहार है, किन्तु निश्चय से वह आश्रय करने लायक नहीं है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्ट कहा है कि – 'मोक्षमार्ग दो नहीं, बल्कि मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग तो नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना, वह व्यवहार मोक्ष है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। अर्थात् सच्चा निरूपण निश्चय और उपचार निरूपण व्यवहार। इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार के मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है – ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।' द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग कहना तो आरोपित कथन है।

भावलिंगी संत मुनिवरों का पंचमहाव्रतादि के परिणाम नियम से होते हैं, भूमिकानुसार होते ही हैं; परन्तु वे भाव सहचारीपने से होते हैं। वे सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं हैं। उन्हें मोक्षमार्ग कहना आरोपित कथन है, यथार्थ नहीं है। भाई ! यदि तू व्यवहार को व्यवहार रूप से जाने तब तो बराबर है; परन्तु यदि तू उन्हें धर्म या धर्म का कारण माने तो यह मान्यता सही नहीं है। दो नय हैं – ऐसा जानना गलती नहीं है, किन्तु दोनों नय आश्रय करने लायक हैं – ऐसा मानना भूल है। आश्रय योग्य तो एक शुद्ध निश्चयनय ही है।

अहाहा ! अन्दर में जो पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल विराजता है, उसकी दृष्टि, ज्ञान व रमणता करने से जो निराकुल निर्विकल्प आनन्द की धारा अन्दर में प्रगट होती है, वह एक ही मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। सहचरपने से रहते हुए व्रत आदि के राग को धर्म कहना केवल व्यवहार से ही है, आरोपित है, यथार्थ-परमार्थ नहीं; क्योंकि वह व्यवहार स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवस्वरूप होने से उसके परमार्थपने का अभाव है। व्रत-तप-भक्ति आदि अशुद्धद्रव्य के अनुभव रूप हैं, शुद्ध द्रव्य के अनुभव रूप नहीं है। अशुद्धद्रव्य का अनुभव कहो या दुःख का अनुभव कहो – एक ही बात है, उसमें निराकुल आनन्द का अनुभव नहीं है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का अपरिमित, अमाप सागर है। अहा ! उसके आश्रय से जितनी शुद्ध परिणति-निर्मल रत्नत्रय परिणति प्रगट होती है, वह परमार्थ मोक्षमार्ग है। उसके साथ जो व्रत-तप-भक्ति-पूजा आदि का राग होता है, वह अशुद्धद्रव्य का – दुःख का वेदन है।

अब कहते हैं कि वह दुःख का वेदन मोक्ष का अर्थात् परमसुख की दशा का कारण कैसे हो ? आत्मा का पूर्णशुद्ध परिणाम ही मोक्ष है, अतः उसका कारण भी आत्मा के शुद्ध परिणाम रूप होना चाहिए। व्रतादि राग के परिणाम आत्मपरिणाम नहीं हैं, वे तो विभाव हैं, औपाधिक भाव है, उसे पहले अधिकार में अजीव-अनात्मा कहा है। वह मोक्ष का कारण कैसे बने? नहीं बन सकता। इसकारण उस द्रव्यलिंग में परमार्थपने का अभाव है।

अब आगे कहते हैं कि – आत्मा अनन्त गुण रत्नों से भरा चैतन्य

रत्नाकर है। उसका एक-एक गुणरत्न अनन्त-अनन्त प्रभुता से भरा है। उसकी महिमा लाकर उसका अन्तर में अनुभव करना मोक्षमार्ग है। वह शुद्धद्रव्य के निस्तुष अनुभवरूप है। इसकारण उसे ही परमार्थपना है। निस्तुष अर्थात् राग रहित शुद्ध वीतरागी अनुभवन ही परमार्थ है। जो एक स्वद्रव्य का वेदन है, उसे ही परमार्थपना है।

यह देह तो नाशवान वस्तु है और स्त्री-पुत्रादि सब मोहित करनेवाले हैं। नियमसार में इन सबको धूर्तों की टोली कहा है तथा शुभराग पुण्य है, धर्म नहीं। त्रिकाली शुद्ध स्वद्रव्य के आश्रय करने पर जो निर्मल रत्नत्रय के परिणाम प्रगट होते हैं, वे ही शुद्ध द्रव्य के अनुभवनरूप होने से परमार्थ हैं। भाई ! जन्म-मरण से रहित होने का एकमात्र यही मार्ग है।

अहाहा ! अपनी वस्तु जो अन्दर में शुद्ध ज्ञानानन्दमय विद्यमान है, उसका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान एवं उसमें रमणता रूप आचरण होने पर वह आनन्दपना प्रगट होता है। यह एक ही परमार्थ मार्ग है। साथ में यथा भूमिकानुसार व्यवहार होता है; परन्तु उसे परमार्थपना नहीं है। अहा ! मुनि और श्रावक के विकल्प से पार त्रिकाली शुद्धद्रव्य के अनुभवरूप जो निर्म दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणति रूप एक यही परमार्थ मोक्षमार्ग है। यह सम्यक् एकान्त है। इसके सिवाय कोई पच्चीस-पचास लाख दान में खर्चे, बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये और प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराये ये सब पुण्य के भाव हैं, ये मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि ये अशुद्धद्रव्य के अनुभवरूप होने से अपरमार्थ है। भाई ! दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम छिलकों की तरह निस्सार हैं। अन्तः चैतन्यतत्त्व के अनुभवन के बिना सब निस्सार हैं।

जो अन्दर में विद्यमान राग रहित अपने स्वद्रव्य का तो श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरण करता नहीं है, उसे जानता नहीं और व्यवहार को ही परमार्थ मानकर अन्य रागादि भाव का ही अनुभव करके उसे ही मोक्षमार्ग मान लेता है, वह समयसार को अनुभवता ही नहीं है।

अरे भाई ! शुभराग को परमार्थ मानकर, व्रत, तप, उपवास, प्रतिक्रमण आदि अनन्त बार किए हैं; परन्तु उनसे क्या हुआ ? भाई ! एक बार निर्णय

कर, श्रद्धा में तो ले कि – व्यवहार क्रियायें आत्मरूप नहीं हैं। एक समय की पर्याय में जिसका लक्ष्य है, उसकी रमत राग में ही है। परमार्थ वस्तु अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जो परमार्थबुद्धि से अनुभवता है, उसी का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र रूप से परिमणन होता है, वही समयसार का अनुभव करता है। वही मोक्षमार्ग और उसका फल मोक्ष प्राप्त करता है।

गाथा ४१४ के भावार्थ पर प्रवचन

भावार्थ में कहते हैं कि – ये व्रत-तप-भक्ति आदि के भाव व्यवहार के विषय भेदरूप हैं, अशुद्धद्रव्य हैं। अहा ! कोई करोड़ों रुपया दान में दे, लाखों मन्दिर बनवाये, जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य पाले, शास्त्रों का खूब अध्ययन करे और पाँच महाव्रतादि २८ मूलगुण पाले। परन्तु यह सब जो प्रशस्त राग है, वह विकाररूप, भेदरूप अशुद्धद्रव्य है। अपने अन्तर में विराजमान आत्मा स्वभाव से तो त्रिकाल शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय अशुद्ध है। इस अपेक्षा से द्रव्य को अशुद्ध कहा है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य कहीं अशुद्ध नहीं हो जाता; किन्तु वर्तमान में द्रव्य का अशुद्ध परिणमन है न ! इसकारण उसे अशुद्ध कहा है। यह समझे बिना अरबपति सेठ और राजा भी दुःखी ही हैं।

भाई ! भेदरूप अशुद्धद्रव्य का अनुभव परमार्थ नहीं है। यदि कोई रत्नजड़ित राजमहल, राजपाट और रानियों को छोड़कर नग्न दिगम्बर दशा धारण कर जंगल में चला जाय और वहाँ धर्मबुद्धि से मन्दराग की अनेक क्रियाएँ भी करे, किन्तु अन्तर्दृष्टि नहीं हो तो ऐसे अशुद्धद्रव्य का अनुभव परमार्थ नहीं है। बाह्य त्याग से अपने को बड़ा माने और ऐसा माने कि मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है तो मिथ्यात्व छूटे बिना उस त्याग से कुछ भी लाभ नहीं है। अहा ! ऐसी-ऐसी व्यवहार की क्रियायें तो इस जीव ने अनन्तबार की हैं, यह सब व्यवहार नय का विषय तो अशुद्धद्रव्य है। यह परमार्थ से मोक्षमार्ग नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि आत्मा पर होती है। वह वर्तमान पर्याय में वर्तती अल्पता को मात्र जानता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए अभी बहुत कुछ

करना शेष है – ऐसा वह मानता है, जबकि अज्ञानी बाह्यत्याग से सन्तुष्ट होकर ऐसा मानता है कि मैं धर्म के क्षेत्र में बहुत कुछ कर रहा हूँ। वस्तुतः – उसे वस्तु स्वरूप की खबर नहीं है। इसकारण वह स्वरूप का त्यागी और मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला ही रहा।

निश्चय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसकारण यही परमार्थ है। अहा! जिसको ११वीं गाथा में भूतार्थ कहा है, वह एक ही सत्यार्थ है, परमार्थ प्रभु है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

निमित्त, व्यवहार और पर्याय व्यवहारनय के विषय हैं, ये परमार्थ नहीं हैं। पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा शाश्वत ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव शुद्ध चिदानन्द प्रभु जो अन्दर में है, वह अभेदरूप शुद्ध द्रव्य है, वही परमार्थ है; क्योंकि उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। अरे भाई! यह व्यवहार क्रियाकाण्ड तो सब कर्मधारा है, यह धर्मधारा नहीं है। भूतार्थ अभेद एक जो शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट निर्मल रत्नत्रय है, वही धर्म है और वही परमार्थ है। इसलिए कहते हैं कि – त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करो – ऐसी भगवान की आज्ञा है। अहा! भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि – हमारे ऊपर जो तेरी दृष्टि है, वह भी छोड़! अपने अन्दर विराजित अपने भगवान आत्मा को दृष्टि में ले! हमारे (सर्वज्ञ के) ऊपर दृष्टि करने से, हमें लक्ष्य में लेने से तो तुझे राग ही होगा। जो व्यवहार को ही निश्चच मानकर प्रर्वतता है उन्हें निज भगवान समयसार का अनुभव नहीं होता। अष्टपाहुड़ में कहा है कि – '**परदब्बाओ दुग्गइसद्दब्बादो हु सुग्गई होई**' पर की ओर दृष्टि करने से दुर्गति एवं स्वद्रव्य की ओर दृष्टि करने से सद्गति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

अहा! दिगम्बर सन्तों को किसी की कोई परवाह नहीं होती। समाज के जचे न जचे, उन्हें इसकी चिन्ता नहीं; वे तो पूर्ण निर्भय व निशंक होकर वस्तु का जैसा स्वरूप है, मुक्ति का जैसा स्वरूप है; वैसा का वैसा ही निरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि – जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ◆

इसी अर्थ का काव्य कहते हैं –

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यता नित्यमेक:।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खल समयसारादुत्तर किंचिदस्ति।।२४४।।

श्लोकार्थ :– (**अतिजल्पै: अनल्पै: दुर्विकल्पै: अलम् अलम्**) बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ; (**इह**) यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि (**अयम् परमार्थ: एक: नित्यम् चेत्यताम**) इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो; (**स्व-रस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-विस्फूरति-मात्रात् समयसारात् उत्तर खल किंचित् न अस्ति**) क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान उनके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है (समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नही है)।

भावार्थ :– पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए; इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।२४४।।

कलश २४४ एवं भावार्थ पर प्रवचन

अहा! कहते हैं कि – बस होओ! बस होओ! बहुत कहने से और बहुत विकल्पों से बस होओ!!! बारह अंगों का सार तो एकमात्र यही है कि – एकमात्र परमार्थ का ही अनुभव करो! चारों अनुयोगों का एक यही सार है। अहाहा........! पूर्णानन्द का नाथ अभेद एकरूप जो अन्दर में ध्रुवरूप त्रिकाल विद्यमान है, उस एक का ही आलम्बन लो, उसी का अनुभव करो! भेद की बातें तो बहुत सुनी, अब तो अभेद को ग्रहण करना है। यहाँ मात्र यही कहना है कि – व्यवहार के दुर्विकल्पों से विराम लेकर एक अभेद को ही ग्रहण करो।

बीच में कभी यदा-कदा भेद के विकल्प आते अवश्य हैं, परन्तु ये तो

अभेद को जानने के लिए है। इसलिए कहते हैं कि – भेद के विकल्पों को मेटकर अभेद, एक निश्चय शुद्ध वस्तु की दृष्टि करो। उसे ही पकड़ो और उसी का निरन्तर अनुभव करो।

देखो, जिसतरह केवली भगवान की जो अनन्त शक्तियों की व्यक्तता पर्याय में प्रगट हुई है, वह अन्दर में जो थी, वही प्रगट हुई है। उसीतरह भगवान! तुझमें भी सब शक्तियाँ त्रिकाल मौजूद हैं, उस अपने ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि केन्द्रित कर! और उसका आलम्बन लेकर उसी का निरन्तर अनुभव कर! उसी के फल में सादि-अनन्त समाधि सुख प्रगट होगा।

अहाहा...........! भगवान! तू अन्दर में अनादि-अनन्त शुद्ध चिदानन्द घन प्रभु; तू उस एक का ही अनुभव कर! उसका फल सादि-अनन्त काल तक अनन्त आनन्द है। इसलिए कहते हैं कि – सर्व विकल्प मिटाकर अपने अखण्डानन्द प्रभु का ही निरन्तर अनुभव करो! क्योंकि इस निजरस के प्रसार से परिपूर्ण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।

अहो! चैतन्य चमत्कार से भरी हुई परम अद्‌भुत वस्तु एक आत्मा ही है। ऐसे भगवान आत्मा का ही निरन्तर अनुभव करो।

प्रश्न :– आपने आत्मा का अनुभव करने को कहा, सो यह तो ठीक बात; परन्तु उसका साधन भी तो कुछ होगा न ?

उत्तर :– इसका अन्य कोई साधन नहीं है। आत्मा का अनुभव करने के लिए व्यवहार रत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं है। अरे! अनुभव के काल में जो अनन्त गुणों की पर्यायें स्वतः प्रगट हुईं, वहाँ जब एक गुण की पर्याय को दूसरे गुण की पर्याय की अपेक्षा नहीं होती तो व्यवहार रत्नत्रय तो बाहर की वस्तु है, उसकी अपेक्षा कैसे हो सकती है ? आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय शरीर के ,कर्म और राग के आधार से नहीं। व्यवहार रत्नत्रय निश्चय का साधन नहीं है।

आत्मा में जो करण नाम का गुण है, वह साधन है और आधार नाम का गुण आधार है। साधन कोई अन्य हो और आधार कोई अन्य हो – ऐसा नहीं होता। अनन्त गुणमय आत्मा के एक गुण का आधार दूसरा गुण नहीं

होता। तो फिर स्वानुभव की दशा का दूसरा गुण आधार हो – ऐसा कैसे संभव है ? पर्याय को भी उसी पर्याय का ही आधार है तथा पर्याय ही स्वयं पर्याय का साधन है। प्रत्येक पर्याय इतनी स्वतंत्र है।

अरे ! जैनकुल में जन्म लेकर भी इतनी खबर नही है कि – जैनधर्म क्या है ? देखो ! यह लकड़ी है न ? इसका एक रजकण दूसरे रजकण के आधार से नहीं रहता। प्रत्येक परमाणु को ऐसा स्वतंत्र अधिकरण है। अहो! प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र अपने-अपने आधार से है। आत्मा में अधिकरण नाम का गुण है न ? बस, वही उसका आधार है, अहो ! प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र अपने-अपने आधार से है – ऐसा अलौकिक वस्तुस्वरूप है।

कर्म का उदय जड़ है वह राग को छूता भी नहीं है, उसीतरह रागभाव भी कर्म को छूता तक नही है तथा रागभाव शुद्धस्वानुभव की पर्याय को छूता नहीं है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। भाई ! वस्तु का अस्तित्व ही इस रीति से चमत्कारिक है। लोग बाहर के नकली चमत्कारों से प्रभावित होते हैं, उन्हें आत्मा के असली चैतन्य चमत्कार की खबर नहीं है। वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय – सब स्वतंत्र हैं। ऐसी वस्तु की चमत्कारिक शक्ति को जाननेवाला भगवान आत्मा चैतन्यचमत्कारी वस्तु है। भाई ! जिसमें सर्व प्रत्यक्ष ज्ञात होता है – ऐसी ज्ञानी की पूर्णता की कोई अद्भुत अलौकिक महिमा है तथा ऐसी जिसकी सामर्थ्य है, वह भगवान आत्मा परम अद्भुत चैतन्यचमत्कार वस्तु है। यहाँ कहते हैं कि – इस एक परमार्थ वस्तु का ही अनुभव करो।

अहाहा.........! निजरस के प्रसार से पूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होनेवाले समयसार से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। जिसकी निर्मल पर्याय प्रगट होने में कोई अन्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का आश्रय सहायक नहीं है – ऐसी निजरस से भरपूर अद्भुत पर्यायशक्ति की विस्फुरणा युक्त समयसार विश्व में परम सारभूत है। भाई ! यह पर्याय की बात है।

पर की क्रिया का कर्ता तो आत्मा है ही नहीं; किन्तु संकल्प-विकल्प का कर्ता भी अज्ञानी होता है। अज्ञानी को स्वभाव की अपार-अनन्त-निज

वैभव की खबर नहीं है, इसकारण वह पुण्य-पाप के संकल्प-विकल्प करता है। पर का कार्य तो कोई त्रिकाल में कभी कर ही नहीं सकता।

अहाहा.....! निजरस के वैभव से भरा भगवान आत्मा परम अद्भुत वस्तु है। २७३ वें कलश में आया है कि – आत्मा का तो यह अनेकान्त ऐसा सहज अद्भुत वैभव है कि इसे अन्तर्मुख होकर देखें तो मुक्त स्वरूप ही भासता है तथा बाहर में दृष्टि डालते हैं तो राग रूप भासता है। अन्तर में देखें तो अभेद एकरूप भासता है तथा भेद से देखें तो अनेक रूप भासता है। अन्तर्मुख होकर देखने पर कषायरहित शान्ति का पिण्ड भासित होता है और बाहर में देखें तो कषाय का क्लेश भासता है। अहा ! आत्मा का ऐसा अद्भुत से अद्भुत स्वभाव वर्तता है।

अहा.......! लोगों को चैतन्यचमत्कार की खबर नही है। इनकी एक समय की ज्ञान की दशा तीनलोक व तीनकाल को एकसाथ ही एक ही समय में जानती है। आत्मा का ऐसा चमत्कारी स्वभाव है। आत्मा के स्वरूप का अनुभव भी बाहर में राग को भी स्पर्श किए बिना होता है – आत्मा का ऐसा अद्भुत स्वभाव है। अहो ! आत्मा का द्रव्य चमत्कारी, उसके गुण चमत्कारी, उसकी पर्याय स्वानुभव की पर्याय को भी किसी का आधार नहीं। वर्तमान पर्याय पूर्व पर्याय के कारण नहीं हुई है। पर के कारण नहीं हुई। वास्तविक बात तो यह है कि – पर्याय का कारण अपने द्रव्य-गुण-पर्याय भी नहीं हैं।

'व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति नहीं होती' – यह बात पहले भी आ चुकी है। 'बाहर में मात्र नग्नदशा और २८ मूलगुण के पालनरूप व्यवहार से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है' – यह बात ही सही नहीं है। बाह्य व्यवहार का तो निर्मल पर्याय स्पर्श नहीं करती और व्यवहार का राग भी निर्मल पर्याय को स्पर्श नहीं करता।

अहो ! समयसार के एक-एक कलश में, एक-एक शब्द में गजब का रहस्य भरा है।

'स्वानुभव की निर्मल पर्याय राग से होती है' – यह बात तो दूर ही रहो

– यहाँ तो यह कहते हैं कि – निर्मल पर्याय का कर्ता स्वद्रव्य है – ऐसा भी उपचार से कहा है।

अरे भाई! साधुपना किसे कहते हैं? यह जानना हो तो इसी समयसार की ५ वीं गाथा देखें – वहाँ टीका में कहा है कि – 'निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु – सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त – उनके प्रसाद रूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रह पूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे जिसका जन्म है। लो देखो! विज्ञानघन आत्मा में हमारे निर्ग्रन्थ गुरु निमग्न थे – ऐसा कहा है। यह नहीं कहा कि वे मात्र नग्न थे और व्यवहार में मग्न थे। भाई! अन्तर्निमग्न दशा ही वास्तविक साधुपना है। व्यवहार भी यथायोग्य होता; परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। ◆

अब अन्तिम गाथा में यह समयसार ग्रन्थ के अभ्यास इत्यादिक का फल कहकर आचार्य भगवान इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है –

(अनुष्टुभ)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयध्यक्षतां नयत्।।२४५।।

श्लोकार्थ :– (**आनन्दमय विज्ञानघनमय अध्यक्षताम् नयत**) आनन्दमय विज्ञानघन को (शुद्ध परमात्मा को समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ, (**इदम् एकम् अक्षयं जगत-चक्ष**) यह एक (अद्वितीय) अक्षय चक्षु (समयप्राभृत) (**पूर्णताम् याति**) पूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से – दोनों प्रकार से जगत को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है; क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि प्रत्यक्ष दिखलाता है, उसीप्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है।२४५।।

कलश २४५ पर प्रवचन

यहाँ समयसार ग्रन्थ की समाप्ति के प्रसंग पर समयसार ग्रन्थ की महिमा बताते हुए इस ग्रन्थ के मूल ग्रन्थ के मूल वाक्य या प्रतिपाद्य आनन्दमय और विज्ञानघन विशेषणों से भगवान आत्मा कारण परमात्मा की महिमा बता रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि – आनन्दमय विज्ञानघन अर्थात् शुद्ध परमात्मा को, समयसार को प्रत्यक्ष दर्शाता हुआ यह एक – अद्वितीय अक्षय जगत चक्षु समयप्राभृत पूर्ण हो रहा है।

यहाँ मूल कलश में भगवान आत्मा के आनन्दमय और विज्ञानघन – ये दो विशेषण कहे हैं; इनका अर्थ है कि समयसार ग्रन्थ का वाच्य भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाश का पुंज और आनन्द का रसकन्द है। सम+अय+सार समयसार अर्थात् जो सम्यक् प्रकार से जानने रूप परिणमित हो तथा इस शरीर, कर्म व विकार से भिन्न हो वह समयसार है।

भाई ! इस ग्रन्थ में तो भगवान आत्मा की भगवत् कथा है। कहते हैं कि – समयसार को प्रत्यक्ष दर्शाता हुआ यह एक ही अद्वितीय अक्षय जगत चक्षु है जो अब पूर्ण हो रहा है, पूर्णता की ओर अग्रसर है। यह शास्त्र तो शब्दशास्त्र है। परन्तु यह शब्द शास्त्र भगवान समयसार को शुद्ध चैतन्य आत्मा को बताता है। जिसतरह शक्कर शब्द मिठास से भरे शक्कर पदार्थ का ज्ञान कराता है, उसीतरह यह शब्दशास्त्र विज्ञानघन आनन्दमय आत्मा को बताता है।

अहाहा.............! आनन्दमय विज्ञानघन प्रभु आत्मा का अपने प्रगट श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष वेदन करना, स्वसंवेदन करना ही धर्म है।

अहा ! ऐसा अलौकिक मार्ग इस शास्त्र में दिखाया है।

भाई ! व्यवहार के शुभ राग से स्वसंवेदन की दशा में उसका माप हो सकता है। ऐसा अलौकिक मार्ग इस शास्त्र में दिखाया है। अहो ! वीतराग जैन परमेश्वर के द्वारा कहे गये शास्त्र अलौकिक हैं, अद्भुत और अद्वितीय हैं। वे एक शुद्ध चैतन्यतत्त्व को ही दिखाते हैं।

अहा ! समयसार प्राभृत एक अद्वितीय, अक्षय जगत चक्षु है। यह

विश्व के स्वरूप को यथास्थित दिखाता है। अहा ! जिसतरह आत्मा लोकालोक को जानने-देखनेवाला अद्वितीय चक्षु है, उसीतरह लोकालोक को देखने-जाननेवाला यह शास्त्र अद्वितीय जगच्चक्षु है। तात्पर्य यह है कि – अन्य कल्पित शास्त्र भगवान आत्मा को नहीं बताते, इसकारण यह अजोड़ है, अद्वितीय है। जिसतरह भगवान आत्मा अक्षय है, उसीप्रकार उसे बतानेवाला यह परमागम अक्षय है, भगवान जैन परमेश्वर की वाणी प्रवाहरूप अक्षय है। अहा ! जो ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु का भान करके उसी में स्थिर हो जाता है, उसे पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति हो जाती है।

कलश २४५ के भावार्थ पर प्रवचन

अन्तर में आत्मा स्वयं पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है। स्वानुभव में उस आनन्दस्वरूप प्रभु की प्रतीति होने पर सर्वज्ञपद की प्राप्ति हो जाती है। अहा! पूर्ण आत्मपद जिसतरह जगत का अक्षय अद्वितीय नेत्र है, उसीतरह ऐसे आत्मा के स्वरूप को बतानेवाला यह समयसार प्राभृत शास्त्र भी जगत का अक्षय अद्वितीय नेत्र है।

ये जड़ नेत्र जिसतरह घट-पट आदि पदार्थों को प्रत्यक्ष दिखाते हैं न! उसीतरह यह समयप्राभृत शास्त्र भी आतमा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाता अनुभवगोचर कराके दिखा देता है। देखो, आत्मा स्वानुभव गोचर प्रत्यक्ष ज्ञात होता है अर्थात् स्वसंवेदनगम्य है, विकल्पगम्य नहीं है; ऐसा शास्त्र बताते हैं। यद्यपि शास्त्र आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं;किन्तु शास्त्र के शब्दों में आत्मा नहीं है। शब्दज्ञान से आत्मा नहीं जाना जायेगा, आत्मा तो स्वानुभवगम्य है फिर भी स्वानुभव के पूर्व प्रथम श्रुतज्ञान के अभ्यास से उस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय होता है, अतः स्वाध्याय भी परम आवश्यक है। ◆

समयसार गाथा ४१५

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

य: समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्।।४१५।।

य: खलु समयसारभूतस्य भगवत: परमात्मनाऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदधीत्य, विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति।

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्वसे।
ठहरे अरथमें जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे।।४१५।।

गाथार्थ :— (**य: चेतयिता**) जो आत्मा (भव्य जीव) (**इदं समय प्राभृतम् पठित्वा**) इस समयप्राभृत को पढ़कर, (**अर्थतत्त्वत: ज्ञात्वा**) अर्थ और तत्त्व से जानकर, (**अर्थ स्थास्यति**) उसके अर्थ में स्थित होगा, (**स:**) वह (**उत्तम सौख्यम् भविष्यति**) उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

टीका :— समयसारभूत भगवान परमात्मा को जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वमय है, उसका प्रतिपादन करता है इसलिए जो स्वयं शब्दब्रह्म के समान है — ऐसे इस शास्त्र को जो आत्मा भलीभांति पढ़कर, विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ — ऐसे परमार्थभूत, चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ (इस शास्त्र को) अर्थ से और तत्त्व से जानकर, उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाले

एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित और निराकुल (आकुलता बिना का) होने से जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता लक्षणयुक्त है ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा।

भावार्थ :– इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थों को कहनेवाला होता है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांग शास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृत शास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृत) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा, वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा और वह जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याण के लिए इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण और ध्यान करो, जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

समयसार गाथा ४१५ एवं टीका पर प्रवचन

अब भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए इसकी महिमा में इस ग्रन्थ के अभ्यास का फल इस गाथा में कहते हैं –

देखो, इस अन्तिम गाथा में तो आचार्यदेव मानो सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार अर्थात् मक्खन ही मक्खन भर दिया है। अहा! आचार्य कुन्दकुन्द लगभग दो हजार वर्ष पूर्व संवत् ४९ में भरतक्षेत्र के महा मुनिवर हो गये हैं। आत्म ध्यान में लवलीन और निज आनन्दस्वरूप में निरन्तर रमण करनेवाले वे नग्न दिगम्बर सन्त महामुनिवर थे। वे यहाँ से महाविदेहक्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी के पास ले जाये गये थे। वे वहाँ आठ दिन रहे थे। साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। भले ही यह समयसार

ग्रन्थ उस घटना के बाद ही लिखा गया; परन्तु इसकी प्रामाणिकता या महिमा का आधार उनके विदेह गमन और सीमन्धर भगवान की दिव्य ध्वनि सुनकर लिखना अच्छा नहीं हैं, बल्कि इसकी महिमा तो आगम का आधार, युक्तियों का आलम्बन और स्वानुभव है, जो वे हर अन्तर्मुहूर्त में करते थे।

यहाँ कहते हैं कि 'समयसारभूत' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट वस्तु अपने ही अन्दर में विराजमान शुद्धात्मा है, ज्ञानानन्दस्वरूप परमोत्कृष्ट परमात्मा है। अहाहा.......! निजस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर त्रिकाल मौजूद है। जिस तरह घड़े में जल भरा होता है, उसीतरह ज्ञान व आनन्द से भरा आत्मा निरन्तर निजस्वरूप में विराजता है। जो अज्ञानी अपने को रंक और मूर्ख मानकर बैठे हैं; उन विषयों के भिखारियों को यह बात कैसे स्वीकृत हो कि 'मैं तो स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, शान्ति का सागर हूँ, नित्यचिदानन्दस्वरूपी भगवान हूँ' विषयाभिलाषियों को यह बात नहीं बैठ सकती। परन्तु बापू! यह ध्यान में रख कि जो अपने ऐसे स्वरूप को जाने उसकी दृष्टि करे, वही सम्यग्दृष्टि जैन है और जो ऐसे निजस्वरूप को तो न जाने, न माने और दया-दान आदि के शुभ राग में धर्म माने वह तो जैन ही नहीं है, अजैन है। जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, यह तो वस्तुस्वरूप पर आधारित वीतरागता का मार्ग है, स्वालम्बी होकर अनन्त सुख-शान्तिमय जीवन जीने की कला है। मुक्ति प्राप्त करने का अमोघ उपाय है।

यहाँ कहते हैं कि समयसारभूत परमस्वरूप परमात्मस्वरूप आत्मा विश्व का प्रकाशक होने से विश्वमय है। अहाहा.....! चैतन्य के नूर का पूर भगवान आत्मा स्वपरसहित सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती लोकालोक का प्रकाशक ज्ञायकस्वभावी होने से विश्वमय है, सम्पूर्ण लोकालोक का प्रकाशक ज्ञायकस्वभावी होने से विश्वमय है, सम्पूर्ण लोकालोक का ज्ञायक है; पर कर्त्ता नहीं। आत्मा परपदार्थ की क्रिया कर ही नहीं सकता; क्योंकि पर में कुछ भी करने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है और उसमें ऐसी सामर्थ्य ही नहीं है। यद्यपि वर्तमान कमजोरी के कारण रागभाव भी होता है; परन्तु

उसका भी वह ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। इसप्रकार भगवान आत्मा विश्व का प्रकाशक होने से विश्वमय है।

आत्मा विश्वमय है। विश्व में अनन्त पदार्थ हैं। वे अनन्त अनंतपने को प्राप्त अपने कारण से रहते हैं। यदि पर के कारण हों तो अनन्तपना संभव नहीं है। विश्व कहते ही उसे हैं जिसमें अनन्तद्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की अनन्त-अनन्त पर्यायें होती हैं; क्योंकि विश्व की परिभाषा ही यह है। द्रव्यों के समूह को ही विश्व कहते हैं और गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं तथा द्रव्य व गुणों में प्रतिसमय होने वाले परिणमन को पर्याय कहते हैं। ये सभी द्रव्य-गुण-पर्यायें अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता और अपने-अपने कारण से हैं। सभी आत्माएँ पूर्ण स्वतंत्र एवं ज्ञाता मात्र हैं। ऐसा जानकर लक्ष्मी का भण्डार भगवान आत्मा विश्व का प्रकाशक होने से विश्वमय है और ऐसे आत्मा का प्रतिपादक होने से यह शास्त्र भी शब्द ब्रह्म समान है। परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का प्रतिपादन करने वाला यह शास्त्र शब्द ब्रह्म है। जिस अपेक्षा भगवान की वाणी (दिव्यध्वनि) पूर्ण शब्दब्रह्म है, उसी अपेक्षा ऐसे साक्षात् परमब्रह्म के प्रतिपादक, तत्त्वों का प्रतिपादन करनेवाले इस शास्त्र को अपने हित के लक्ष्य से सबको पढ़ना चाहिए।

अरे भाई ! जब हम लौकिक पढ़ाई में इतनी शक्ति लगा देते हैं, जो मात्र आजीविका ही दे पाती है, इससे कोई आत्मा का हित नहीं होता अतः जन्म-मरण मेटने के लिए हमें यह परमार्थ शास्त्र पढ़ना चाहिए। दूसरों के दिखावे या पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिए नहीं, बल्कि केवल आत्मा के लक्ष्य से ही पढ़ना चाहिए।

प्रश्न :— इस शास्त्र को पढ़कर फिर क्या करें ?

उत्तर :— इसे पढ़ने से यह ज्ञात होगा कि – 'मैं चैतन्यमय आत्मा हूँ' लोकालोक को जानने की सामर्थ्य रूप परमार्थभूत चैतन्यप्रकाश का पुंज हूँ। मैं स्वयं स्वभाव से भगवान हूँ। यदि अपने को जानकर, पहचानकर इसी में जम जाऊँ, रम जाऊँ तो पर्याय में परमात्मदशा प्रगट हो सकती

है। भाई ! यह तो भव का अभाव करनेवाला परमहितकारी शास्त्र है। इस भव का मूल एक मिथ्यात्व है। शास्त्र पढ़कर निजस्वरूप का निर्णय करना मिथ्यात्व का नाश करने का उपाय है। स्वस्वरूप का निर्णय करना ही इस समयसार शास्त्र का सार है, प्रयोजन है।

'अर्थ' व 'तत्त्व' को जानने की जो बात कही है, उसका तात्पर्य यह कि – आत्मा जो त्रिकाली वस्तु है, वह तो है अर्थ और उसका जो ज्ञान स्वभाव वह है तत्त्व। जिसप्रकार सोना है अर्थ और उसके पीलापन, भारी पन, चिकनापन बहुमूल्यपना आदि स्वर्णत्व है उसका तत्त्व। आत्मा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य अर्थ है और ज्ञान, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, आदि गुणस्वभाव उसके तत्त्व हैं। अर्थ का तत्त्व अर्थात् द्रव्य का भाव। भाववान वस्तु अर्थ है और भाव उसका तत्त्व है। अहा ! जिसे अपना कल्याण करना हो उसको यह भाव सहित भाववान निजद्रव्य का निर्णय करना पड़ेगा।

भाई ! यह कोई साधारण कथा-वार्ता नहीं है। यह तो पूर्णानन्द के नाथ के स्वरूप की बात है, जो भगवान की दिव्यध्वनि में आई और गणधर देव ने जिसे द्वादशांगरूप में गूंथी है/कही है।

कविवर बनारसीदासजी ने तो इसकी महिमा करते हुए कहा है –

'मुख ओंकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारै।
रची आगम उपदेश भविकजीव संसय निवारै।।'

अर्थात् सर्वज्ञ भगवान की ओंकार रूप दिव्यध्वनि सुनकर गणधरदेव द्वादशांगरूप में ऐसा तत्त्वोपदेश देते हैं, जिससे भव्य जीवों के संशय का निवारण हो जाता है, मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। समयसार गाथा में भी यही कहा है कि जो – भव्यजीव इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ और तत्त्व से अपने भगवान आत्मा में स्थित होगा, उसे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

आत्मवस्तु अर्थ है और ज्ञान उसका तत्त्व। उसे जानकर, तत्त्व सहित अर्थ को जानकर तू अर्थ में, आत्मपदार्थ में स्थिर हो जा। इससे तेरी दशा उत्तम आनन्दमय हो जायेगी। अरे ! अज्ञानीजन इन्द्रियों के विषयों में सुख

मानते हैं; परन्तु वहाँ सुख नहीं है। इन्द्रिय के विषय तो हालाहल जहर हैं। जिसतरह सर्प का कालकूट जहर चढ़ जाने से नीम की पतियाँ भी मीठी लगती हैं, उसीतरह मिथ्यात्व के जहर में दुःखद विषय सुखमय भासते हैं तथा बाहर के परपदार्थों में सुख की कल्पना करता है। उससे कहते हैं कि जरा अपने अन्दर में झांककर देख तो सही। जहाँ अकेला सुख ही सुख का सागर लहरा है। यदि उसका निर्णय करके उसी में स्थिर हो जाये तो आनन्दरूप से परिणमित हो जायेगा।

देखो, जगत की मातायें तो बालक को लोरियाँ देकर सुलाती हैं और जिनवाणी माता 'भगवान आत्मा' कहकर जगाती है, जाग रे जाग नाथ! अब सोने का समय नहीं है। अब जागने का सुअवसर आ गया है। तू समयसारभूत भगवान आत्मा है, तुझमें पूर्ण परमात्मशक्ति भरी है। ओ हो! तू ज्ञान-आनन्द-वीर्य आदि अनन्तगुण मणि रत्नों का भण्डार है। अन्तर में झांककर देखे तो खबर पड़े न!

आत्मा का निर्णय करे तो उसी में नवतत्त्वों का निर्णय आ जाता है। पुण्य-पाप का आचरण और बन्ध का भाव भगवान आत्मा के अस्तित्व में नहीं है। आत्मा के अस्ति स्वरूप का निर्णय करने पर उसमें जो पर और विकार नहीं है, उसका निर्णय भी साथ में में हो ही जाता है। आत्मद्रव्य और उसके भाव को जानकर निर्णय करने पर अन्य नास्तिरूप पदार्थों का निर्णय सहज ही हो जाता है।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्र का अर्थ भी यही है कि भाव सहित पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। द्रव्य-गुण-पर्याय का तत्त्व जानकर तत्त्व सहित अर्थ का श्रद्धान ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है। परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा स्वपर को जानने के स्वभाववाला ज्ञानमात्र भावस्वरूप तत्त्व है। पर व राग आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। राग व पर को अपना मानना भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। बात थोड़ी सूक्ष्म है, पर आत्मार्थी को समझना तो पड़गी ही। मिथ्याभाव आत्मपदार्थ में नहीं है। ये तो पर्याय में नवीन ही उत्पन्न हुआ है। विभाव-विपरीत भाव है। इसतरह द्रव्य-गुण-पर्याय

तीनों को ही उनके तत्त्व सहित यथार्थ जानना। अर्थ अर्थात् पदार्थ को उसके (भाव) स्वभाव सहित जानना ज्ञान है।

अहाहा.......! आत्मा पूर्ण विज्ञानघन प्रभु, अनन्त-अनन्त चैतन्य रत्नों से भरा है। उसे जानकर अभेद एक द्रव्य में लीन होना मोक्षमार्ग है। अहा! द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को ही जानकर अर्थभूत भगवान आत्मा एक, अभेद पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में दृष्टि एकाग्र करना, उसी में स्थित होना, ठहरना ही मुक्ति का मार्ग है। शेष बाहरी क्रिया और पढ़ना/पढ़ाना आदि सब निस्सार है। आत्मा परमब्रह्म विज्ञानघन है उसी में सर्वथा पुरुषार्थ करे स्थित होना। यही एक मात्र सुखी होने का सच्चा उपाय है।

'जिस समय जो होना है, वही होता है' यह तो पूर्णसत्य है, परन्तु वे सब कार्य जो स्वसमय में होते हैं, बिना पुरुषार्थ के नहीं होते। अज्ञानी को पुरुषार्थ के स्वरूप का पता नहीं है, तीनकाल तीनलोक को एक समय में जाने – ऐसे केवलज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य को स्वीकार करनेवाली की दृष्टि का स्थापित होना ही अनन्त पुरुषार्थ है। जब ज्ञान की पर्याय त्रिकाली ध्रुव की सन्मुखता के पुरुषार्थ द्वारा निर्णय करती है तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है।

भाई! तू क्रियाकाण्ड करने में जो पुरुषार्थ होना मानता है; परन्तु यह तो विपरीत पुरुषार्थ है, राग करना व राग में रचना-पचना आत्मा का वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं है, अनन्तवीर्य का कार्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्म परमानन्दस्वरूप निज आत्मा में सर्व उद्यम से जो स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होकर चैतन्यरस से भरे हुए स्वभाव में स्थित और निराकुल-परमानन्दमय परम सौभाग्यरूप स्वयं ही हो जायेगा। अहा! 'परमानन्द' जो शब्द है वह पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के भाव को बताता है। जो पूर्ण पुरुषार्थ से अपने द्रव्य स्वभाव में स्थित होगा, वह उस अतीन्द्रिय आनन्द को स्वयं प्राप्त हो जायेगा।

गाथा ४१५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, 'समय' शब्द के दो अर्थ होते हैं – एक पदार्थ और दूसरा

आत्मा। उस चैतन्यघन चिदानन्दकन्द प्रभु भगवान आत्मा को ही बताने वाला यह समयप्राभृत शास्त्र है। वह भगवान आत्मा स्व पर पर इसप्रकार समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। अहाहा..........! लोक में अनन्तसिद्ध, उससे अनन्तगुणे निगोद राशि सहित संसारी जीव, उनसे अनन्तगुणे पुद्गल आदि सर्व को जाननेवाला भगवान आत्मा का स्वभाव है, परन्तु किसी भी परपदार्थों का कर्त्ता आत्मा नहीं है। हम जो ये शब्द बोलते हैं न! इनका कर्त्ता भी हम-तुम नहीं हैं। अरे भाई! शब्दों में आत्मा नहीं है और आत्मा में शब्द नहीं होते। अतः आत्मा को शब्दों का कर्तृत्व त्रिकाल नहीं है। हाँ, भगवान आत्मा मात्र शब्दों का ज्ञायक है, जाननेवाला है। भाई! आत्मा पर की क्रिया कर सके – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

अरे! यह जीव अब तक 'मैं पर की क्रिया पालूँ, दान करूँ,' – इसप्रकार पर की क्रिया करने के मिथ्या अहंकार में चार गतियों में रखड़-रखड़ कर मरा है। इसने अनन्तकाल से यह नहीं जाना कि 'मैं स्वयं भगवान आत्मा हूँ' तथा वीतराग परमेश्वर ने आत्मा का क्या स्वरूप बताया है? वस्तुतः धर्म का स्वरूप सर्वज्ञ स्वभावी, सम्पूर्ण विश्व को जानने की सामर्थ्य से सम्पन्न है। ऐसा विश्व प्रकाशक परब्रह्म है स्वरूप भगवान आत्मा को कहनेवाला होने से यह शास्त्र शब्दब्रह्म समान है। सर्वप्रकाशक आत्मा परब्रह्म है तथा उसे बतानेवाला यह शास्त्र शब्दब्रह्म है।

अहा! भगवान आत्मा स्वपरप्रकाशक, विश्वप्रकाशक स्वभाव से भगवान स्वरूप ही है। यह सम्पूर्ण विश्व को जान सकता है; परन्तु विश्व को किसी भी वस्तु का कर्ता नही है, सम्पूर्ण वस्तुएँ स्वतंत्र, स्व संचालित हैं, कोई किसी का कर्त्ता नहीं है।

अहा! प्रत्येक पदार्थ में जो क्रिया होती है, वह उसी की व्यवस्था है, उसी की विशेष अवस्था है। परमाणु की प्रतिसमय जो अवस्था होती है, वह परमाणु की अपनी स्वतंत्र व्यवस्था है। आत्मा उसमें कुछ भी नहीं करता, कुछ कर भी नहीं सकता; क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वभाव मात्र वस्तु है। यह शास्त्र ऐसे शुद्ध आत्मा को साक्षात् देखता है। अहो! आत्मा वस्तु है

और स्वयं अस्ति रूप हैं उसे शास्त्र से जानकर जो उसी में ठहरता है, वह निकट भविष्य में परब्रह्म को प्राप्त करेगा। उसे अतिशय, उत्तम, स्वाधीन, अविनाशी, अव्याबाध सुख की प्राप्ति होगी। भगवान आत्मा स्वपरप्रकाशक चैतन्य बिम्ब है। उसी में दृष्टि करके उसी में लीन होने का ही इस शास्त्र में उपदेश है।

जो भी ऐसे स्वस्वरूप निज शुद्धचैतन्यस्वरूप में दृष्टि करके ठहरेगा, वह उत्तम अनाकुल सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तुम अपने हित के लिए स्वस्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करो। उसी का श्रवण-चिन्तन-मनन करो और उसी का ध्यान व स्मरण करो, इससे अविनाशी सुख की प्राप्ति होगी। ◆

अब इस सर्वविशुद्धज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक कहते हैं :–

(अनुष्टुभ)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।।२४६।।

श्लोकार्थ :– (**इति इदम् आत्मनः तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्थितम**) इसप्रकार यह आत्मा का तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ (**अखण्डम्**) कि जो (आत्मा का) ज्ञानमात्रतत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खण्ड-खण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं हैं), (**एकम्**) एक है (अर्थात् अखण्ड होने से एकरूप है), (**अचल**) अचल है (अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता – ज्ञेयरूप नहीं होता), (**स्वसंवेद्यम्**) स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से ही ज्ञात होने योग्य है), (**अबाधितम्**) और अबाधित है (अर्थात् किसी मिथ्यादृष्टि से बाधा नहीं पाता)।

भावार्थ :– यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह है :– आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना

जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिए उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है इसलिए इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है; इसलिए ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत भी पाले और ज्ञानमात्र आत्मा का ध्यान भी करे तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायों के कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये किन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिए स्याद्वाद से यथार्थ समझना चाहिए। ।२४६।।

कलश २४६ पर प्रवचन

यह समयसार मूलग्रन्थ का अन्तिम कलश है। यहाँ कहते हैं कि इसप्रकार आत्मा का तत्त्व परमार्थस्वरूप ज्ञानमात्र है – ऐसा निश्चित हो गया। ये जो नवतत्त्व हैं, उनमें जीवतत्त्व ज्ञानमात्र स्वरूपवाला है। जगत का ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। यह अपने सिवाय पर में कुछ करता नहीं है। यह ऐसा अकर्त्ता प्रभु है। पर के करने की बात ही क्या कहें, निश्चय से तो यह अपनी पर्याय का भी कर्ता नहीं है। पर्याय तो प्रतिसमय स्वतः होती ही है न! इसकारण वास्तव में तो वही पर्याय ही स्वयं की कर्ता है। द्रव्य को पर्याय का कर्ता कहना ही तो व्यवहार है।

अरे! यह करूँ, वह करूँ – ऐसी मिथ्या मान्यता से ही तो यह जीव अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में रखड़ रहा है। भगवान आत्मा तो ज्ञानमात्र स्वरूप ही है – ऐसे ज्ञानमात्र आत्मा की श्रद्धा करना, इसका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

यद्यपि अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मोदय के निमित्त से यह

खण्ड-खण्ड दिखाई देती है; परन्तु ज्ञानमात्र आत्मा में कोई खण्ड नहीं है। ज्ञेयों को जानने से आत्मा ज्ञेयाकार नहीं हो जाता।

ज्ञेय शब्द ही यह दर्शाता है कि इसको जानने वाला कोई ज्ञान है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और सारा विश्व ज्ञेयरूप से उस ज्ञान में जाना जाता है, ज्ञाता होता है। ये दया, दान, भक्ति आदि के विकल्प और देव-शास्त्र-गुरु आदि पंचपरमेष्ठी से लेकर समस्त विश्व ज्ञेय है। इन्हें ज्ञान जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान मात्र तत्त्व अखण्ड है। अखण्ड इस कारण कहा है कि यद्यपि आत्मा के ज्ञान में ज्ञेय जानने में आते हैं; परन्तु ज्ञेयों को जानते हुए ज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञेयाकाररूप नहीं होता, ज्ञेयों के कारण ज्ञान खण्डित नहीं होता। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान ज्ञानाकार ही रहता है। जिसप्रकार आँख द्वारा अग्नि दिखाई देते हुए भी अग्नि आँख में प्रविष्ट नहीं हो जाती अथवा आँख अग्नि नहीं हो जाती, उसी तरह अग्नि ज्ञान में दिखाई देती है; परन्तु अग्नि आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाती अथवा ज्ञान अग्नि नहीं हो जाता। अग्नि से ज्ञान खण्डित होकर अग्निरूप नहीं होता। ज्ञान ज्ञान ही रहता है।

ज्ञान ज्ञानरूप से रहकर ही परज्ञेयों को जानता है, आत्मा परद्रव्य का तो कभी स्पर्श ही नहीं करता। अहा.......! चैतन्य आत्मा परद्रव्य (कर्म, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, देव-शास्त्र-गुरु) को तो स्पर्श ही नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कभी भी चुम्बन ही नहीं करता, स्पर्श ही नहीं करता – यह अटल सिद्धान्त है।

प्रश्न :– आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है तो फिर ज्ञान ज्ञेयों को जानता है या नहीं ?

उत्तर :– भाई ! निश्चय से तो ज्ञान ज्ञान ही है। ज्ञान परज्ञेयों को जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है। ज्ञान का तो मात्र जानना स्वभाव है। वह अपने ज्ञायकस्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक है। किन्तु ज्ञेय को जानने से उसे ज्ञान हुआ हो – ऐसी पराधीनता ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। ज्ञेयों को

जाननेरूप परिणमने का ज्ञायकस्वभावी आत्मा का सहजस्वभाव एवं सामर्थ्य है। ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान अपनी सहज सामर्थ्य से ही ज्ञानरूप से प्रगट होता है। ज्ञायक को ज्ञेयों की पराधीनता नहीं हैं।

भाई ! यह तत्त्वज्ञान की बात विशेष समय निकालकर समझना चाहिए। वैसे तो सभी लोग कहीं न कहीं लौकिक कामों में उलझे रहने के कारण चौबीसों धण्टे व्यस्त ही हैं, हमें किसी को मरने तक की फुरसत नहीं है – ऐसा किसी के भी मुख से सुन लो; परन्तु ऐसा कहने से कभी दुःख का अन्त नहीं आयेगा। अतः इसी व्यस्त समय में से ही कुछ समय निकालना पड़ेगा; अन्यथा क्षण भर में देह छूटने पर तथ्य व सत्य समझे बिना कहाँ-कहाँ रखड़ेगा ? कहीं भव समुद्र में डूब जायेगा और चारों गतियों की क्षुद्र पर्यायों में जन्म-मरण करता रहेगा।

कहते है कि प्रभु ! तू ज्ञानमात्र है, तेरा तत्त्व अखण्ड है। अहा ! ज्ञान तो ज्ञानरूप से परिणमता है वह कहीं ज्ञेयाकाररूप नहीं हुआ। अनन्त ज्ञेयाकारों को ज्ञान जानता है तथापि अनन्त ज्ञेयाकाररूप खण्ड-खण्ड नहीं होता। यही मूल मुद्दे की बात है। अरे ! इस जीव ने अब तक स्वस्वरूप सन्मुख होकर निज अन्तर तत्त्व को नहीं जाना। यह भारी अफसोस की बात है।

अहा ! बाहरी क्रियाकाण्ड तो यह जीव अनन्तबार कर चुका है। साक्षात् समोशरण में जाकर भी इसने अनेक प्रकार से अरहंत भगवान की भक्ति-स्तुति की है तथा अनंतबार भगवान की दिव्यध्वनि भी साक्षात् सुनी है; परन्तु यह सब तो पर सन्मुख प्रवृत्तियाँ हैं। यह अब तक इन पर सन्मुख प्रवृत्तियों से हटकर स्वसन्मुख नहीं हुआ। निजचैतन्यतत्त्व ज्ञानमात्र वस्तु को जानकर उसका अनुभव नहीं किया। जबकि निजानुभव ही एकमात्र सम्पूर्ण जिनवाणी का सार है।

यहाँ दो बातें कहीं हैं – १. आत्मा ज्ञानमात्र स्वरूप वस्तु है। शरीर-मन-वाणी- इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, रागादि विकार आत्मा नहीं हैं और अन्य

जीव पंचपरमेष्ठी आदि भी निज आत्मा नहीं है तथा आत्मा ज्ञानमात्रवस्तु होने से समस्त जगत को जानने की सामर्थ्यरूप होने से उसे जानता तो है परन्तु उन ज्ञेयों को जानने से वह पर कर्ता नहीं हो जाता।

२. वह ज्ञानमात्र वस्तु अखण्ड है, अनन्त ज्ञेयों को जानते हुए भी वह ज्ञेयाकाररूप नहीं हो जाता। ज्ञानाकार ही रहता है। सबको जाननेवाला ज्ञान स्वयं अपने कारण ही ज्ञानाकारपने होता है, ज्ञेयाकारों के कारण यहाँ ज्ञान नहीं होता। उनके कारण ज्ञान खण्डित भी नहीं होता। ज्ञान तो अखण्ड, अभेद स्वभाव से ही रहता है।

अहा ! सम्पूर्ण दुनिया का व्यवसाय करने के सामने इस अज्ञानी को अपने तत्त्व को जानने की परवाह नहीं है, गरज भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था का अपने को कुशल व्यवस्थापक मानना मिथ्याभ्रम है; क्योंकि किसी अन्य के कारण किसी अन्य की व्यवस्था होना तीनकाल में भी संभव नहीं है। वस्तुतः सारा जगत स्वयं व्यवस्थित ही परिणमता है तथा उसको जाननेवाला तेरा ज्ञान भी व्यवस्थित ही स्वयं परिणम रहा है। भाई ! तुझे तो मात्र जानना है एवं तू भी जाननेरूप स्वयं ही परिणमता है, तेरे परिणमन में ज्ञेय भी कुछ नहीं करते। तेरा ज्ञान भी ज्ञेयाकार नहीं होता। आत्मा का या ज्ञान का ऐसा ही अखण्ड एवं अभंग स्वभाव है।

देखो, जिसप्रकार 'जगत' शब्द में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समा जाता है, उसीप्रकार 'ज्ञान' शब्द में भी पूरा ब्रह्ममाण्ड और ज्ञायकस्वभावी अखण्डानन्द प्रभु आत्मा आ जाता है। अहा ! पूरे लोक को जानने का आत्मा का स्वभाव है; किन्तु पूरे लोक को जानते हुए भी आत्मा की एकरूपता अखण्डता खण्डित नहीं होती।

प्रतिपक्षी कर्मोदय के निमित्त से ज्ञान में मति-श्रुत आदि रूप से खण्ड-खण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्र वस्तु में खण्ड नहीं होता, वस्तु तो अखण्डित ही रहती है; मतिश्रुत आदिपर्यायों से देखने पर खण्ड-खण्ड दिखाई देता है; किन्तु ज्ञानमात्र वस्तु तो स्वभाव से पूर्ण अखण्ड ही है। अल्पज्ञता और राग आदि वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु तो पूर्ण अभेद

अखण्डरूप ही है। ज्ञानमात्र तत्त्व एकरूप है, उसमें अनेकपना नहीं आता। इस अन्तिम कलश में सार भर दिया है।

अब कहते हैं कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व अचल है। 'अचल है' अर्थात् आत्मा ज्ञानरूप से परज्ञेयरूप या जड़रूप नहीं हो जाता। सदा ज्ञानरूप ही रहता है। जिसप्रकार दर्पण के सामने जो अग्नि हो तो वह अग्नि दर्पण में प्रतिबिम्बित दिखाई देती है, वह दर्पण की ही पर्याय है, वह अग्नि की अवस्था नहीं है, अग्नि के कारण भी नहीं हुई है। भले अग्नि निमित्त है; परन्तु अग्नि ने दर्पण की पर्याय को किया नहीं है। इसीतरह भगवान आत्मा ज्ञानदर्पण है, लोकालोक को जानने का उसका स्वयं का पर्यायगत स्वभाव है। ज्ञान में जो राग ज्ञात होता है, वह ज्ञान की पर्याय है राग की नहीं तथा राग के कारण हुई हो – ऐसा भी नहीं है; क्योंकि ज्ञान अचल है, रागमय नहीं होता, परज्ञेयरूप नहीं होता। जब राग का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं होता तो यह कहना कहाँ तक ठीक है कि राग से ज्ञान होता है। आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र वस्तु है और ज्ञानरूप से कभी चलित नहीं होती।

अब कहते है कि भगवान आत्मा स्वसंवेद्य है। स्वयं स्वयं से ही स्वसंवेदन ज्ञान में जानने में आता है' ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा परज्ञेयों को जानता है, इस कारण वह परवेदनमय नहीं हो जाता। वह सदा स्वसंवेद्य ही है। अपना व पर का ज्ञान करता है; किन्तु वेदन-संवेदन तो अपने स्वरूप का ही करता है।

ओ हो ....! आत्मा का तत्त्व स्वसंवेद्य है। स्वपर को पूरा जानते हुए भी पर का वेदन नहीं करता। स्वयं को स्वयं से ही वेदन में आता है – ऐसा निजतत्त्व स्वसंवेद्य है। स्वयं में रहकर स्वयं को जानता है, उसी में पर का जानना हो जाता है। वस्तुतः पर का स्वसंवेदन नहीं होता।

अब कहते हैं कि आत्मतत्त्व अबाधित है। किसी खोटी या मिथ्या युक्ति से बाधित नहीं होता। यहाँ कोई यह कह सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहना क्या एकान्त नहीं हो जायेगा ?

समाधान यह है कि एकान्त नहीं है; क्योंकि आत्मा को जो ज्ञानस्वरूप

कहा – इसमें 'ज्ञान है' – ऐसा कहने से आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व होने से 'अस्तित्व' गुण आ गया। 'यह ज्ञान ही है' इसप्रकार इसमें श्रद्धागुण भी आ गया। 'ज्ञान में स्थिरता करना' इस कथन में चारित्रगुण भी आ गया। 'ज्ञान ही महिमावन्त है' इसप्रकार प्रभुत्वगुण आ गया। इसप्रकार "ज्ञानमात्र कहने में अकेला ज्ञान ही नहीं आता, इसमें तो अभेदरूप से अनन्तगुण समा जाते हैं। 'ज्ञानमात्र' वस्तु में उसके अनन्त गुणों का निषेध नहीं है, बल्कि शरीरादि और रागादि परपदार्थों का निषेध है। इसप्रकार ज्ञानमात्र वस्तु कहने से एकान्त नहीं है।

अरे ! दुनिया के लोग करोड़ो या अरबों रुपयों की सम्पत्ति में सुख मानकर बैठे हैं; किन्तु शास्त्रकार इन सबको वराकः अर्थात् विचारा, रंक, भिखारी कहते हैं। तृष्णावंत है न ! सभी विषयों के मांगने वाले – मंगने अर्थात् भिखारी हैं। इन्हें अपने अन्दर जो अनन्त ज्ञानलक्ष्मी मौजूद है, उसकी खबर नहीं है। इनसे आचार्य कहते हैं कि अन्दर देख तो सही ! तू चैतन्य महाप्रभु ज्ञानलक्ष्मी से भरपूर है, तेरा स्वरूप मिथ्या युक्तियों से बाधित नहीं होता। तेरा चैतन्यतत्त्व अनन्त-ज्ञान-आनन्द-शान्ति-वीतरागता आदि अनन्त गुणों की महिमा से मण्डित है। तू अन्तर्दृष्टि से अपने ऐसे स्वरूप को देखते ही निहाल हो जायेगा। तुझे तेरे स्वरूप में कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। तू ऐसा अबाधित तत्त्व है।

कलश २४६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं फिर भी उसे ज्ञानमात्र कहने का कारण यह है कि आत्मा में मूलतः दो तरह के गुण (धर्म) होते हैं, १. सामान्य २. विशेष। सामान्य अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण तथा बहुत से विशेष गुण भी पर्यायाश्रित होने से सभी जीवों में नहीं रहते अतः वे गुण तो आत्मा के लक्षण भी नहीं बन सकते; क्योंकि इन्हें लक्षण बनाने से ये अन्य द्रव्यों के भी पाये जाने के कारण तथा सम्पूर्ण जीवों में न होने से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष लगते हैं।

'चेतना या दर्शन ज्ञान' आत्मा का अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित लक्षण है। उनमें भी ज्ञान साकार है। प्रगट अनुभवगोचर है; इसकारण ज्ञान लक्षण के द्वारा ही आत्मा जाना-पहचाना जा सकता है। इसलिए यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा की पहचान कराई है।

चैतन्य शक्ति त्रिकाल आत्मा की स्वरूपभूत है; किन्तु वह ध्रुवशक्ति मात्र है, अदृष्ट है, प्रगटरूप नहीं है, इसकारण उससे भी आत्मा जाना जा सकता है। चैतन्यशक्ति की प्रगटता ज्ञान-दर्शन है। उसमें ज्ञान साकार है, प्रगट है, अनुभवगोचर है; इससे उसके द्वारा ही आत्मा जाना जाता है।

प्रश्न :– ज्ञान साकार है, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :– ज्ञान में स्वपर को भिन्न-भिन्न स्पष्ट जानने की सामर्थ्य है। दर्शन में स्वपर को भेद करके देखने की शक्ति नहीं है। दर्शन तो वस्तु का सामान्य अवलोकन मात्र है। इसकारण ज्ञान द्वारा ही आत्मा भिन्न जाना जा सकता है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा दया-दान आदि के विकल्पों से नहीं जाना जा सकता, अस्ति आदि गुणों से नहीं जाना जाता, सामान्य चित्शक्ति त्रिकालध्रुव है, उससे भी जाना नहीं जाता तथा चैतन्य की प्रगट व्यक्त दशा दर्शन व ज्ञान है, उसमें भी दर्शन, से नहीं जाना जाता; मात्र साकार प्रगट व्यक्त अनुभवगोचर ज्ञान से ही आत्मा जाना जाता है। अहा......! ज्ञान की प्रगट व्यक्त दशा में देहादि पर से भिन्न आत्मा जानने में आता है। इसलिए ज्ञान द्वारा ही आत्मा भिन्न पहचाना जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

देह में स्थित होते हुए भी देह से आत्मा की पहचान नहीं होती तथा व्रत-तप- दान-भक्ति-पूजा आदि के विकल्प से भी आत्मा नहीं पहचाना जाता। दर्शन, जो कि चैतन्य का ही प्रगट अंश है, उससे भी वस्तु का सामान्य अंश अस्तिमात्र दिखाई देने के कारण पर से भिन्न आत्मा को देखने की ताकत न होने के कारण आत्मा को नही पहचान सकता। मात्र ज्ञान ही स्व एवं पर को जानता है; इसलिए ज्ञान को प्रधान करके उसे ही

आत्मा का तत्त्व कहा है।

यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, अनन्तगुण हैं, फिर भी ज्ञान को ही स्वपर को भिन्न-भिन्न जानने की शक्ति वाला होने से आत्मा का लक्षण कहा है। ज्ञान द्वारा ही आत्मा जानने में आता है। दर्शन उपयोग भी चैतन्य शक्ति का अंश है; परन्तु वह सामान्य अस्तिरूप द्रष्टा मात्र है, निर्विकल्प है। दर्शन सामान्य का ग्रहण होने से स्वपर का भेद करके वस्तु को नहीं देखता; जबकि ज्ञान साकार है, सविकल्प है। वह स्वपर को भेद करके वस्तु को जानता है। इसप्रकार आत्मा को भिन्न जानने की शक्ति ज्ञान में ही है। इसीकारण ४१५ वीं गाथा में ज्ञान को ही आत्मा कहा है।

आत्मा में हैं तो अनन्त धर्म; परन्तु यहाँ ज्ञान को ही मुख्य करके ज्ञान को आत्मा का तत्त्व कहा है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चिति, दृशि, सर्वदर्शिता, सर्वज्ञता, प्रभुत्व, विभुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, जीवत्व, स्वच्छत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, कर्तृत्व, अकर्तृत्व इत्यादि अनन्त शक्तियाँ आत्मा में हैं। शक्ति कहो या गुण कहो, स्वभाव कहो – सब एक ही बात है, जब ये सब आत्मा हैं तो फिर ज्ञानमात्र ही आत्मा है – ऐसा क्यों कहा? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ज्ञान लक्षण से ही आत्मा जानने में आता है।

अहाहा........! प्रत्येक आत्मा अन्दर शक्तिरूप से भगवान है। उसको जानने का उपाय विस्तार से परिशिष्ट में भी उपाय-उपेयभाव के माध्यम से आने वाला है। आत्मा में ज्ञानशक्ति तो त्रिकाल है। उसकी एक समय की ज्ञान की दशा का स्वरूप में स्थिरता मोक्ष का उपाय है और वह आत्मा में ही है तथा उसका फल ज्ञान की पूर्णता उपेय है। वह भी आत्मा में ही है। इसप्रकार प्रधानरूप से ज्ञान ही आत्मा का तत्त्व है।

अहा ....! ज्ञानमात्र आत्मवस्तु स्वरूप से ही अनन्तगुणस्वरूप है। आत्मा में ज्ञान के सिवाय आनन्द, शक्ति, चिति, स्वच्छता, प्रभुता, ईश्वरता, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अन्य अनन्तगुण अभेदरूप से रहते हैं; इसलिए आत्मा एकान्त से मात्र ज्ञान ही है – ऐसा नहीं समझना। आत्मा में राग-द्वेष-

मोह आदि विभाव नहीं हैं, परवस्तु आत्मा में नहीं है – यह बात तो पूर्णरूप से सही ही है; परन्तु दर्शन, ज्ञान,चारित्र, स्वच्छता, प्रभुता आदि अनन्तगुण जो आत्मा में तत्रूप से रहते हैं, वे भी नहीं हैं – ऐसा नहीं समझना चाहिए। आत्मा को जो ज्ञानमात्र कहा है, वह तो अपेक्षा से कहा है। वैसे आत्मा तो अनन्त धर्म स्वरूप है। ज्ञान लक्षण से ही आत्मा जानने में आता है, इस अपेक्षा से ज्ञान को प्रधान करके आत्मा का तत्त्व ज्ञान कहा है। इस कथन को देखकर ज्ञान ही आत्मा है आत्मा के अन्य धर्म झूठे हैं या है ही नहीं – ऐसा एकान्त नहीं मान लेना। भाई ! यह मनुष्पना तो चला जायेगा और त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर द्वारा कही गई यह बात यों ही बिना सुने समझे ही रह जायेगी। अतः गर्ज करके उत्साहपूर्वक रुचि के साथ सुनना-समझाना चाहिए।

अरे भाई ! अपने अनेकान्त स्वरूप आत्मा को जाने बिना इस जीव ने अनंतबार मुनिव्रत धारण किया, वनवास किया, ग्यारह अंग तक पढ़ा; परन्तु इससे धर्म संबंधी कुछ भी लाभ नहीं हुआ। संसार का कारण जो मिथ्यात्व भाव था। वह किंचित भी कम नहीं हुआ। मंदकषाय के कारण कदाचित स्वर्ग पा लिया हो; परन्तु उससे चार गति का परिभ्रमण नहीं मिटता, मंदकषाय बाह्य व्रतादि के पालन से मोक्ष का साधन नहीं बनता। एकान्त से ऐसा ही माने कि 'ज्ञान ही आत्मा है' परन्तु अनेकान्तमय आत्मा के स्वरूप को न जाने तो साधु होने पर भी मोक्ष का साधन नहीं बनता। इसलिए कहते हैं कि स्याद्वाद से वस्तु का स्वरूप यथार्थ समझना चाहिए। जिस अपेक्षा से जो कथन हो, उसे उसकी वह अपेक्षा समझना चाहिए।

टीकाकार के अन्तिम छन्द पर प्रवचन

देखो, सम्पूर्ण समयसार की ४१५ गाथाओं का सार इस एक छन्द में भर दिया है। यह शास्त्र सभा में अक्षर-अक्षर का अर्थ करने के सथ १८ बार पूरा बांचा जा चुका है। यह १६ वीं बार भी अक्षर-अक्षर का अर्थ करने के साथ पूरा हो रहा है। यह पिछले ४५ वर्ष से निरन्तर चल रहा है। वैसे मेरे देह की स्थिति ६१ वर्ष की हुई है, प्रारंभ के ४५–४६ वर्ष तो स्थानक सम्प्रदाय

में यों ही गुजर गये, यह तो देह की उमर की बात है। भगवान आत्मा तो अनादि अनन्त है, उसकी क्या उमर ? जिसका आदि नहीं, अन्त नहीं ऐसा भगवान आत्मा अन्दर त्रिकाल रहनेवाली विद्यमानवस्तु है।

अहाहा..........! भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है। अकेला ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का कंद शाश्वत प्रभु है। ऐसा चिदानन्द प्रभु आत्मा पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। जो पर का स्पर्श ही नहीं करता, वह पर को करे या भोगे कैसे ? ये शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों की अनेक क्रियाएँ जो होती हैं, इनका कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। भाषा का कर्ता भी आत्मा नहीं है। यह तो ठीक, परन्तु परद्रव्य के लक्ष्य से जो राग-द्वेष-मोह होते हैं, उनका कर्ता भी आत्मा नहीं है।

यद्यपि यह कथन सरल है, भाषा सादी है; परन्तु भाव बहुत गंभीर है। इस भाव तक पहुँचना इसे प्राप्त करना ही अपना मूल कर्तव्य है। अब कहते हैं कि लोक में जो अन्य मूर्त या अमूर्त द्रव्य हैं, वे भी ज्ञानरूप नही हैं, जड़ हैं न ! वे आत्मा नही हैं। वे आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं, इसकारण आत्मा में उनका अभाव है – ऐसा कहा है; किन्तु जगत में उनका अभाव नहीं है।

भाई ! ऐसी अद्‌भुत वस्तु को शीघ्र समझे। अभी नहीं समझेगा तो कब समझेगा। समय तो यों ही बीतता जा रहा है।

कहते हैं कि जो मूर्त-अमूर्त अन्य द्रव्य हैं, वे ज्ञानरूप नहीं हैं अर्थात् वे आत्मा नहीं हैं। वे वस्तुएँ ही नहीं हैं – ऐसा नहीं है। बस वे आत्मा से भिन्न हैं। जैसे आत्मा है वैसे वे भी हैं किन्तु वे आत्मा नहीं हैं। रागादि विभाव भाव भी हैं, परन्तु वे भी आत्मा नहीं, वरन् आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा उनका कर्ता-भोक्ता भी नहीं है।

भाई ! आत्मा का ऐसा अंतरंग परमार्थ स्वरूप जाने बिना आत्मज्ञान का उदय नहीं होता और बिना आत्मज्ञान के जन्म-मरण की गांठ नहीं छूटती। भाई ! मिथ्यात्व ही जन्म-मरण की गांठ है। जीव जबतक पर का एवं पुण्य-पाप आदि भावों का स्वयं को कर्ता मानता है तबतक मिथ्यात्व

प्रगट रहता है।

अहा.....! ऐसा जानकर ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष सदैव स्वयं का सेवन करता है अपनी आराधना करता है। यहाँ आराधना करने से तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव स्वस्वरूप की दृष्टि, ज्ञान एवं रमणता करता है। रागादि व पर पदार्थों का कर्तृत्व छोड़कर स्वरूप में एकाग्र (लीन) होकर प्रवर्तता है। धर्मी जीव इसप्रकार सदैव अपने आत्मा की आराधना करता है, आत्मा का भजन करता है। भगवान का भजन करना तो राग है। धर्मी जीवों को वह राग भी होता है; परन्तु वह धर्म नहीं है, परमार्थ भक्ति नहीं है।

देखो, धर्मात्माओं को अर्हंतादि भगवान की भक्ति होती है। वह अनादि परम्परा की चीज है, यह कुछ चीज ही न हो – ऐसा भी नहीं है और यह धर्म भी नहीं है। स्वर्गों में भी असंख्य जिनमन्दिर हैं। नन्दीश्वर द्वीप में भी अकृत्रिम जिन मन्दिर हैं। इन्द्र व देवगण वहाँ जाकर भक्ति-पूजा करते हैं; परन्तु वे सब शुभभाव हैं। वे भाव धर्म नहीं हैं। अशुभ से बचे रहने हेतु धर्मी के ऐसे शुभभाव भी होते हैं; परन्तु वे धर्म नहीं हैं। धर्मी पुरुष उन्हें धर्म जानते/मानते भी नहीं हैं। अशुभ में-अस्थान में राग न जाय, इसकारण व्रत भक्ति आदि शुभराग आता है; परन्तु उससे पुण्यबंध ही होता है, धर्म नहीं।

भाई! वैसे तो समकितियों को ही क्या? मुनियों को भी शुभभाव होते हैं। भगवान के दर्शन, वन्दना, स्तुति, भक्ति इत्यादि के शुभभाव उन्हें भी आते हैं; किन्तु उससे पुण्यबंध ही होता है, धर्म नहीं। धर्मी की धर्म परिणति तो इससे भिन्न ही वर्तती है। बस, इसी का नाम 'आपकू भजे सदीव है'।

आगे कहते हैं कि वह आप स्वयं कैसा है? ज्ञानरूप है, सुखरूप है और अतीन्द्रिय आनन्दरूप है। उसमें दूसरी वस्तु का लगाव नहीं है, संबंध नहीं है; इसीलिए यहाँ कहते हैं कि 'आन न लगाव को' अपनी भजनरूप धर्म परिणति में अन्य चीज का संबंध नहीं है।

इसीलिए कहते हैं कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना टालकर ज्ञानचेतना का अभ्यास करो! पुण्य-पापरूप कार्य करने का नाम कर्मचेतना

है। यहाँ जड़कर्म की बात नहीं, जीव के शुभ-अशुभ भावरूप कार्य करने के विकल्प का नाम कर्मचेतना है। यहाँ कहते हैं कि उसे दूर करके ज्ञानचेतना का अनुभव करो। ज्ञानचेतनारूप अभ्यास करना धर्म है। अहा ! मैं तो ज्ञानस्वरूप मात्र ज्ञाता दृष्टा स्वरूप हूँ, जानने-देखने वाला हूँ – ऐसा स्वाभिमुख होकर अभ्यास करना धर्म है। कर्मचेतना व कर्मफलचेतना को दूर करके ज्ञानचेतना का अनुभव कर ! अहा ! मैं तो ज्ञानस्वरूप मात्र ज्ञाता-द्रष्टा – इसप्रकार स्वाभिमुख होकर अभ्यास करना ज्ञानचेतना का अभ्यास है। कर्मचेतना कर्मफलचेतना का अभ्यास संसार है, दुःख है इससे विपरीत ज्ञानचेतना का अभ्यास धर्म है और उसका फल परम शुद्धतारूप मोक्ष है, परम अतीन्द्रिय सुख है। इसलिए कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दूर करके एक शुद्धभावमय ज्ञानचेतना का अभ्यास करो।

(सवैया)

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकामांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं प्यारे न अभाव को;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखरूप आन न लगाव को,
कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भावको।

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत श्री समयसार परमागम की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य विरचित आत्मख्याति नाम की टीका में सर्वविशुद्ध ज्ञानका प्ररूपक नववाँ अंक पर हुए श्री कानजीस्वामी के प्रवचन पूर्ण हुए। ◆